भोट-भारतीय-ग्रन्थमाला - २५

आचार्यनागार्जुन-प्रणीतः

पिण्डीक्रमः पञ्चक्रमश्च

सम्पादकः
प्रो० रामशङ्कर त्रिपाठी

भोट विद्या संस्थानम्

केन्द्रीय-उच्च-तिब्बती-शिक्षासंस्थानम्, सारनाथः, वाराणसी

बुद्धाब्दः २५४५ खैस्ताब्दः २००१

BIBLIOTHECA INDO-TIBETICA SERIES - XXV

PIṆḌĪKRAMA AND PAÑCAKRAMA
of
Ācārya Nāgārjuna

Edited by
Prof. Ram Shankar Tripathi

CENTRAL INSTITUTE OF HIGHER TIBETAN STUDIES
SARNATH, VARANASI

B.E. 2545 C.E. 2001

BIBLIOTHECA INDO-TIBETICA SERIES - XXV

Chief Editor: *Prof. Geshe Ngawang Samten*
Publication Incharge: *Samten Chhosphel*

Editorial Board

Prof. S. Rinpoche
Prof. Ram Shankar Tripathi
Prof. Krishnath
Prof. Ramesh Chandra Tewari
Acharya Losang Norbu Shastri
Acharya Ngawang Samten
Acharya Gyaltsen Namdol

First Editio: 550 copies, 2001

Price: Hardback: Rs. 110.00
Paperback: Rs. 80.00

© Central Institute of Higher Tibetan Studies, Sarnath -221007 Varanasi (U.P.) India 2001. All rights reserved.

Publisher:
Central Institute of Higher Tibetan Studies,
Sarnath, Varanasi-221007, India.

Printed at Shivam Printers, Maldahiya, Varanasi.

भोट-भारतीय-ग्रन्थमाला - २५

आचार्यनागार्जुन-प्रणीतः

पिण्डीक्रमः पञ्चक्रमश्च

सम्पादकः
प्रो० रामशङ्कर त्रिपाठी

भोट विद्या संस्थानम्

केन्द्रीय-उच्च-तिब्बती-शिक्षासंस्थानम्, सारनाथः, वाराणसी

बुद्धाब्दः २५४५ खैस्ताब्दः २००१

भोट-भारतीय-ग्रन्थमाला - २५

प्रधान सम्पादक : प्रो० गेशे नवङ समतेन

प्रकाशन प्रभारी : श्री समतेन छोस्फेल

सम्पादक-मण्डल

प्रो० स० रिन्पोछे
प्रो० रामशङ्कर त्रिपाठी
प्रो० कृष्णनाथ
प्रो० रमेशचन्द्र तिवारी
लोसंग नोरबू शास्त्री
आचार्य ङवङ् समतेन
आचार्य ग्यलछन् नमडोल

प्रथम संस्करण : ५५० प्रतियाँ, २००१

मूल्य : सजिल्द : ११०·००
अजिल्द : ८०·००

© केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान,
सारनाथ, वाराणसी - २२१००७, २००१
प्रकाशक सम्बन्धी सभी अधिकार सुरक्षित ।

प्रकाशक :
केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान,
सारनाथ, वाराणसी-२२१००७

मुद्रक : शिवम् प्रिन्टर्स, मलदहिया, वाराणसी ।

प्रकाशकीय

'पिण्डीक्रम एवं पञ्चक्रम' नामक इस लघुकाय, किन्तु प्रामाणिक तन्त्र-ग्रन्थ को विद्वानों के समक्ष प्रस्तुत करते हुए असाधारण हर्ष का अनुभव हो रहा है । इसके रचयिता आचार्य नागार्जुन हैं । ज्ञात है कि बौद्धतन्त्रों का विभाजन पितृतन्त्र, मातृतन्त्र एवं अद्वयतन्त्र में भी किया जाता है । गुह्यसमाज पितृतन्त्र, हेवज्र, चक्रसंवर आदि मातृतन्त्र एवं कालचक्र अद्वयतन्त्र के उदाहरण हैं । प्रस्तुत ग्रन्थ गुह्यसमाज तन्त्र की संक्षिप्त, किन्तु प्रामाणिक टीका है । इस पर भारतीय एवं भोट आचार्यों की अनेक टीकाएँ हैं ।

क्रियातन्त्र, चर्यातन्त्र, योगतन्त्र एवं अनुत्तर योगतन्त्र भी तन्त्रों के विभाजन का एक प्रकार हैं । उनमें से प्रस्तुत ग्रन्थ का सम्बन्ध अनुत्तर योगतन्त्र से है । अनुत्तरतन्त्र में उत्पत्तिक्रम और निष्पन्नक्रम ये दो क्रम होते हैं । इनमें परस्पर हेतु-फलभाव होता है । पहले उत्पत्तिक्रम में पारंगत होने पर ही साधक निष्पन्नक्रम की साधना का अधिकारी होता है । इन दोनों से साधना परिपूर्ण होती है और साधक एक ही जन्म में (वर्तमान जन्म में) बुद्धत्व प्राप्त करने में समर्थ हो जाता है । बुद्धत्व प्राप्त करना ही बौद्धतन्त्रों का चरम उद्देश्य है ।

उत्पत्तिक्रम के लिए आचार्य नागार्जुन ने पिण्डीक्रम का तथा निष्पन्नक्रम के लिए पञ्चक्रम का प्रणयन किया है । निष्पन्नक्रम के क्रमों के बारे में विभिन्न ग्रन्थों में चार, पाँच या छह क्रमों की चर्चा उपलब्ध होती है, किन्तु इस संख्या-भेद की वजह से साधना या अधिगम में कोई फर्क नहीं पड़ता, केवल एक का दूसरे में अन्तर्भाव कर देने से यह भेद होता है । आचार्य नागार्जुन ने प्रस्तुत ग्रन्थ में निष्पन्नक्रम को पाँच क्रमों में क्रमबद्ध किया है ।

परम पूज्य परमपावन दलाई लामा जी ने अगस्त १९८९ में काशी के कुछ वज्रबन्धुओं को कृपा कर गुह्यसमाज का अभिषेक देकर पञ्चक्रम का उपदेश दिया था । उस समय यद्यपि पञ्चक्रम का एक प्राचीन संस्करण संस्कृत में उपलब्ध था, किन्तु वह अपर्याप्त प्रतीत हुआ । फलतः अन्य अनेक पाण्डुलिपियों एवं भोट-अनुवादों से मिलान कर एक प्रामाणिक संस्करण के सम्पादन का निश्चय किया गया। फलस्वरूप यह कार्य सम्पन्न हो सका है। संस्कृत मूल के साथ इसके

भोट-पाठ का भी आगे सम्पादन करके प्रकाशन किया जाएगा । यद्यपि अनेक व्यस्तताओं के कारण इस कार्य में विलम्ब अधिक हो गया है, फिर भी यह एक अच्छा कार्य सम्पन्न हुआ है, इसका हमें सन्तोष है ।

तन्त्र के प्रति इधर विद्वानों में रुचि जागरित हुई है । जिज्ञासुओं को इसके प्रकाशन से बौद्धतन्त्र के बारे में निश्चित ही ज्ञानलाभ मिलेगा, ऐसी आशा है । इस कार्य को सम्पन्न करने के लिए सम्पादक-मण्डल के सदस्य एवं प्रकाशन-अनुभाग के सदस्य साधुवाद के पात्र हैं ।

भवतु सर्वमङ्गलम्

प्रो० गेशे ङवङ् समतेन
निदेशक

सारनाथ
७ जुलाई २००१

पुरोवाक्

भारत सदा से अध्यात्म-प्रधान देश रहा है । तन्त्रविद्या आध्यात्मिक साधना का चरमोत्कर्ष है । बुद्धत्व की प्राप्ति इसका उद्देश्य है । व्यक्तित्व की परिपूर्णता या व्यक्तित्व के विकास की पराकाष्ठा बुद्धत्व है । सभी विशुद्ध एवं अनास्रव सद्गुणों का एकत्र समवस्थान इसका अर्थ है । यह प्रज्ञा और करुणा (उपाय) की सामरस्य अवस्था है । इससे बढ़कर व्यक्तित्व की कोई दूसरी अवस्था नहीं है । यह अनुत्तर परम पद है । सभी प्राणियों को सभी दु:खों से सर्वथा मुक्त करने के लिए या उन्हें बुद्धत्व पद प्राप्त कराने के लिए परार्थ बुद्धत्व की प्राप्ति की जाती है । बुद्धत्व साधन है तथा सत्त्वों की दु:खमुक्ति साध्य है । बुद्धत्व की प्राप्ति ही महायान धर्म और साधना का अन्तिम लक्ष्य है ।

महायान साधना के अवान्तर दो नय हैं— (१) पारमितानय एवं (२) मन्त्रनय । बुद्धत्व-प्राप्ति की अभिलाषा रखने वाले साधक में सर्वप्रथम बोधिचित्तोत्पाद आवश्यक है । सम्पूर्ण प्राणियों के हित और सुख के लिए बुद्धत्व-प्राप्ति की उत्कट एवं अकृत्रिम अभिलाषा 'बोधिचित्त' है । बोधिचित्त के उत्पाद के साथ ही व्यक्ति 'बोधिसत्त्व' कहलाने लगता है और उसका महायान में प्रवेश हो जाता है । तदनन्तर साधक छह या दस पारमिताओं की साधना में संलग्न हो जाता है । इसके फलस्वरूप उसमें ज्ञानसम्भार एवं पुण्यसम्भार का सञ्चय होता है । इस सम्भारद्वय के सञ्चय की वजह से साधक में क्लेशावरण और ज्ञेयावरण का आत्यन्तिक प्रहाण करने में समर्थ शून्यता-साक्षात्कारिणी लोकोत्तर प्रज्ञा का उदय होता है । फलत: सम्भार आदि पाँच महायान मार्गों एवं प्रमुदिता आदि दस भूमियों में क्रमश: अधिरोहण करता हुआ साधक व्यक्ति अन्त में बुद्धत्व का लाभ करता है ।

करुणामूलक बोधिचित्त के उत्पाद एवं पारमिताओं की साधना में दोनों (पारमिता और मन्त्र) नयों में कोई अन्तर नहीं है । दर्शन में भी दोनों नयों में कोई अन्तर नहीं है, क्योंकि शून्यता ही दोनों नयों का दर्शन है । साधना की परिपूर्णता से प्राप्त होने वाले बुद्धत्वरूपी फल में भी दोनों नयों में कोई अन्तर नहीं है । फिर भी पारमितानय से मन्त्रनय की विशेषता है ।

बुद्धत्व प्राप्त करने तक की साधना में जहाँ पारमितायानी साधक को तीन असंख्येय कल्प या अपरिमित काल लग जाता है, वहीं मन्त्रयानी साधक अपनी

तीक्ष्णेन्द्रियता, उपायकुशलता, उपायबहुलता एवं उपायविशेषता के बल पर एक ही जन्म में बुद्धत्व प्राप्त करने में सक्षम हो जाता है । एक (वर्तमान) जन्म में ही बुद्धत्व की प्राप्ति, वज्रदेह की सिद्धि, विधि-निषेध का परिवर्जन, मन्त्र, वायु, नाडी, बिन्दु एवं चक्रों की साधना, राग-द्वेष आदि क्लेशों को बुद्धत्व-प्राप्ति का मार्ग बनाना तथा फलावस्था का उपाय के रूप में उपयोग करना आदि तन्त्र की अपनी अन्य विशेषताएं हैं ।

क्लेशों के मार्गीकरण की क्षमता में भेद के कारण मन्त्रों के चार भेद होते हैं, यथा— क्रियातन्त्र, चर्यातन्त्र, योगतन्त्र एवं अनुत्तर योगतन्त्र । अनुत्तर योगतन्त्र बुद्धत्व-प्राप्ति का प्रमुख साधन है । अन्य तन्त्र उसके सोपान की भाँति हैं । अनुत्तर तन्त्र के भी दो भेद हैं, यथा पितृतन्त्र एवं मातृतन्त्र । तन्त्र की जिस साधना-पद्धति में बुद्धत्व की प्राप्ति के लिए मायाकाय को सिद्ध करने की साधना प्रमुखरूप से होती है, वह 'पितृतन्त्र' तथा जिसमें प्रभास्वरता की प्रमुखता होती है, वह 'मातृतन्त्र' कहलाता है । गुह्यसमाज पितृतन्त्र है तथा हेवज्र, चक्रसंवर आदि मातृतन्त्र कहलाते हैं । अनुत्तर तन्त्र में दो क्रमों की साधना की जाती है, यथा— उत्पत्तिक्रम एवं निष्पन्नक्रम । निष्पन्नक्रम की साधना में ४, ५, या ६ क्रमों की चर्चा तन्त्रशास्त्रों में उपलब्ध होती है । किन्तु यह सब नाम-मात्र का अन्तर है, साधना में कोई खास फर्क नहीं होता । इन सब की चर्चा भूमिका में कुछ विस्तार से की गई है । अत: विशेष जानकारी के लिए वहीं अवलोकन करना चाहिए ।

श्रीपर्वत पर धान्यकटक में भगवान् बुद्ध ने तन्त्र-विषयक धर्मचक्र का प्रवर्तन किया । तन्त्रों की बुद्धवचनता के बारे में आधुनिक इतिहासज्ञ परस्पर-विरोधी विभिन्न मत प्रकट करते हैं और उनके बुद्धवचन होने में सन्देह और विप्रतिपत्ति व्यक्त करते हैं । बौद्धतन्त्रों की अविच्छिन्न प्राचीन परम्परा में विश्वप्रसिद्ध दार्शनिक, साधक, दोषज्ञ, समीक्षक, मनीषी उत्पन्न हुए हैं, जिनकी सत्यनिष्ठा, तटस्थ प्रत्यवेक्षा, उदारचरित्रता, बुद्धिवैभव एवं प्रखर प्रतिभा में आधुनिक विद्वानों को भी विप्रतिपत्ति नहीं है । परम्परा के उन महनीय मनीषियों में कभी भी उस प्रकार के सन्देह उत्पन्न नहीं हुए, जैसे आधुनिक विद्वानों के मन में पैदा हो रहे हैं । ऐसी स्थिति में परम्परागत मान्यताओं से असहमत होने का हमें कोई पर्याप्त कारण प्रतीत नहीं हो रहा है । फलत: तन्त्रों की बुद्धवचनता और उनकी प्रामाणिकता के बारे में हमारा मत परम्परागत विद्वानों के साथ है ।

समस्त सत्त्वों की सम्पूर्ण दुःखों से आत्यान्तिक विमुक्ति के लिए बुद्धत्व की प्राप्ति ही तन्त्रविद्या का चरम उद्देश्य है । इस तन्त्रपरम्परा में ऐसे लोगों का प्रवेश ही वर्जित है, जो व्यक्तिगत मोक्ष के आकांक्षी हैं । स्वमुक्ति के अभिलाषी भी कुछ कम महत्त्वपूर्ण साधक नहीं होते । वे शमथ-विपश्यना, विद्या-आचरण एवं लौकिक-लोकोत्तर मार्ग के उत्तम साधक होते हैं, फिर भी उनका उद्देश्य क्योंकि व्यक्ति-सीमा तक ही परिमित होता है, अतः इस परार्थ मार्ग में उन्हें परिवर्जनीय माना गया है । तन्त्रमार्ग के भी अपने विशिष्ट 'शील', 'समय' एवं 'संवर' होते हैं, जिनका उन्हें कड़ाई से पालन करना होता है और उनसे च्युत होने पर भयङ्कर नरकों में उनका पतन भी अवश्यम्भावी होता है । हाँ, यह अवश्य है कि साधना की विशेष अवस्थाओं में क्षिप्र सिद्धि के लिए तन्त्रों में कुछ तीक्ष्ण एवं विशेष उपायों की चर्चा है, किन्तु परम्परा से अनभिज्ञ, शास्त्रों के अक्षरार्थ का अनुगमन करने वाले पण्डितम्मन्य लोगों के लिए उनका सही-सही अर्थ समझ पाना अत्यन्त कठिन है । मध्यकाल और आधुनिक युग के अनेक पण्डितों ने तन्त्रों पर मिथ्याचार, आडम्बर एवं दुराचरण बढ़ाने का दोषारोपण किया है । हर साधना-परम्परा में ऐसे कुछ अनधिकारी एवं ढोंगी उपलब्ध हो सकते हैं, किन्तु उनके कारण दर्शन, साधना, कला, चिकित्सा, ज्योतिष, गणित आदि महनीय भौतिक-आध्यात्मिक विद्याओं से समन्वित तन्त्रपरम्परा की अवहेलना एवं उसकी महत्ता की उपेक्षा करना न तो उचित है और न मानवहित में ही है । गुरु-परम्परा से जिन्हें तन्त्र-मार्गों की सही जानकारी प्राप्त है, ऐसे विद्वानों की दृष्टि में उपर्युक्त सारे दोषारोपण नितान्त असम्बद्ध और उनके तन्त्र-विषयक अज्ञान के परिचायक हैं । प्रसन्नता की बात है कि इधर तन्त्रों के बारे में विद्वानों में न केवल जिज्ञासा ही बढ़ी है, अपितु पर्याप्त समझदारी का भी उदय हुआ है । यह शुभ लक्षण है ।

प्रस्तुत ग्रन्थ

प्रस्तुत पिण्डीक्रम एवं पञ्चक्रम नामक यह ग्रन्थ गुह्यसमाज तन्त्र की स्वतन्त्र एवं प्रामाणिक टीका है । आचार्य नागार्जुन इसके रचयिता हैं । इसलिए बौद्धतन्त्र परम्परा में इस ग्रन्थ का अत्यधिक महत्त्व है । इसमें गुह्यसमाज तन्त्र के साधना-तत्त्वों का संक्षिप्त, स्पष्ट एवं तात्त्विक निरूपण किया गया है । इसमें अनुत्तर योगतन्त्र के उत्पत्तिक्रम और निष्पन्नक्रम की साङ्गोपाङ्ग व्याख्या की गई है । आचार्य नागार्जुन ने निष्पन्नक्रम में पाँच क्रम माने हैं, यथा— वज्रजापक्रम,

अनुत्तरसन्धिक्रम, स्वाधिष्ठानक्रम, अभिसम्बोधिक्रम एवं युगनद्धक्रम । ग्रन्थ की महत्ता को देखते हुए हमने इसका प्रामाणिक एवं सुरुचिपूर्ण संस्करण करने का निश्चय किया । यद्यपि इसका एक संस्करण लुइस डी ला वेली पूसें द्वारा सम्पादित होकर प्रकाशित हुआ था, किन्तु प्रतीत होता है कि पर्याप्त सामग्री की अनुपलब्धता के कारण उसका जैसा होना चाहिए, वैसा प्रकाशन सम्भव न हो सका । हमने प्रस्तुत संस्करण की पाठ-शुद्धि एवं पाठनिर्धारण के लिए संस्कृत की विभिन्न पाँच पाण्डुलिपियों का उपयोग किया है, यथा—

संङ्केत- क (१) edited by Louis de-la Vallee Poussin in DE L'UNIVERSITY DE GAND, 1896.
[Rec.] by T.W. Rhys Davids. (JRAS, 1896, p.384)
[Rec.] by S.Levi (R. Cr., No 28, P, 21 F. 1896)

संङ्केत- ख (२) डॉ० ठाकुरसेन नेगी के संग्रह से प्राप्त पाण्डुलिपि । डॉ० नेगी केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान द्वारा परिचालित 'दुर्लभ बौद्ध ग्रन्थ शोध योजना' के अन्तर्गत सन् १९८७ में बौद्ध हस्तलेखों के सर्वेक्षण के लिए नेपाल गये थे । वहाँ उन्हें यह प्रति व्यक्तिगत संग्रह से प्राप्त हुई थी । विवरण इस प्रकार है- हस्तलेख संख्या २५/८९, पत्र सं०-३४, आधार नेपाली कागज, देवनागरी लिपि, पूर्ण ।

संङ्केत- ग (३) यह हस्तलेख राष्ट्रीय अभिलेखालय काठमाण्डू, नेपाल में 'क्रमसाधन पञ्चक्रम' शीर्षक से संरक्षित है । विवरण इस प्रकार है— हस्तलेख संख्या- ४/१२२, आधार ताडपत्र, भुजिमोल लिपि, अपूर्ण । इस हस्तलेख की माइक्रोफिल्म प्रति शान्तरक्षित पुस्तकालय (केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान, सारनाथ) में तथा इसी की फोटो-प्रिन्ट प्रति सरस्वती भवन ग्रन्थालय (सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी) में संरक्षित है, जिसकी क्रम सं०-बी-३१/१० है ।

संङ्केत- घ (४) गायकवाड ओरियन्टल इन्स्टीच्यूट बड़ौदा में यह हस्तलेख 'युगनद्ध क्रम' शीर्षक से संरक्षित है, जिसका विवरण इस प्रकार है— हस्तलेख संख्या-१३२९६, आधार नेपाली कागज,

पत्र सं०-१५, देवनागरी लिपि, अपूर्ण । इसकी जिराक्स प्रति केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान, सारनाथ की दुलर्भ बौद्ध ग्रन्थ शोध योजना इकाई में संरक्षित है ।

संङ्केत- घ (५) यह हस्तलेख बिब्लियोथिके नेशनलि पेरिस, फ्रान्स में 'पञ्चक्रम' शीर्षक से संरक्षित है । इसका विवरण इस प्रकार है— हस्तलेख सं०- ६५, देवनागरी लिपि, आधार भारतीय कागज, अपूर्ण । इस हस्तलेख की माइक्रोफिल्म प्रति केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान, सारनाथ में संरक्षित है ।

इसके अलावा ग्रन्थ-संशोधन में निम्नलिखित छह भोट-संस्करणों से भी सहायता ली गई है, यथा—

(१) पेकिङ्ग संस्करण
(२) दे-गे-संस्करण
(३) छग-लोचावा का अनुवाद, पेकिङ्ग संस्करण
(४) लक्ष्मीङ्करा की टीका, तनग्युर-संग्रह (दे-गे संस्करण)
(५) नागबोधि की टीका, तनग्युर-संग्रह (दे-गे संस्करण)
(६) रत्नाकरशान्ति विरचित पिण्डीकृतसाधनवृत्ति रत्नावलि, तनग्युर-संग्रह (दे-गे संस्करण)

हमने यथासम्भव शुद्ध पाठ देने का प्रयास किया है तथा पाठान्तरों का संकेत पाद-टिप्पणी में यथास्थान कर दिया है । फिर भी त्रुटि की सम्भावना से इन्कार नहीं किया जा सकता । विज्ञ पाठक त्रुटियों की ओर इङ्गित करने की अवश्य कृपा करेंगे, ऐसी आशा है ।

आभार

हमारे निवेदन पर परमपूज्य परमपावन दलाई लामा जी ने करुणापूर्वक हमें पञ्चक्रम का उपदेश देने की विगत अगस्त १९८९ में स्वीकृति प्रदान की । तदनुसार सारनाथ, वाराणसी से कुछ बन्धु धर्मशाला गए । हमारे हाथ में पञ्चक्रम का एक पुराना संस्करण था, जो हमें अपर्याप्त प्रतीत हुआ । तभी हमने इस ग्रन्थ के प्रामाणिक संस्करण का निश्चय किया । अनेक व्यस्तताओं के कारण इस छोटे

से काम में बहुत अधिक समय लग गया । देर से ही सही, जिज्ञासु पाठकों के समक्ष इसे प्रस्तुत करते हुए हमें प्रसन्नता हो रही है । हमारा यह सारा कार्य परमपावन दलाईलामा जी की कृपा का फल है । परम कारुणिक गुरु वज्रधर परमपावन दलाई लामा जी के चरण-कमलों में हमारा यह तुच्छ अर्थगुम्फित शब्दपुष्पोपहार सादर समर्पित है ।

सम्पादक

भूमिका

नमो गुरवे मञ्जुघोषाय

तथागत शाक्यमुनि भगवान् बुद्ध ने महाकरुणा से प्रेरित होकर सर्वप्रथम स्वयं में बोधिचित्त का उत्पाद किया । पारमिताओं की साधना के द्वारा उन्होंने अनन्त पुण्य और ज्ञान सम्भारों का संचय किया तथा उनके द्वारा क्लेश और ज्ञेय आवरणों का समूल प्रहाण कर सम्यक् संबुद्धत्व प्राप्त किया । तदनन्तर विभिन्न आशय, धातु एवं बुद्धि की क्षमता वाले विनेयजनों की पात्रता के अनुसार अनेक प्रकार की धर्मदेशनाएं कीं ।

समस्त धर्मोपदेश अन्ततोगत्वा सभी सत्त्वों को अशेष दु:खों से मुक्त कराकर उन्हें सम्यक्सम्बुद्धत्व प्राप्त कराने के उद्देश्य से ही प्रदत्त हैं । आचार्य आर्यदेव के अनुसार तीन चर्याओं में समस्त उपदेशों का वर्गीकरण किया जा सकता है, यथा— (१) हीनाधिमुक्त विनेयजनों के लिए विराग चर्या (२) उदाराधिमुक्त विनेयजनों के लिए भूमि एवं पारमिताओं की चर्या तथा (३) अतिगम्भीर अधिमुक्ति वाले विनेयजनों के लिए मन्त्रचर्या । उसी प्रकार आचार्य त्रिपिटककमल (कम्बलपाद) के नयत्रयप्रदीप में समस्त बुद्धवचनों का चतुरार्यसत्यनय, पारमितानय एवं महागुह्य मन्त्रनय इन तीन नयों में वर्गीकरण किया गया है । आचार्य ज्ञानकीर्ति भी उपर्युक्त विभाजन ही स्वीकार करते हैं । आचार्य मैत्रेयनाथ ने सूत्रालङ्कार में समस्त बुद्धवचनों का संग्रह दो पिटक में भी किया है, यथा— श्रावक पिटक एवं बोधिसत्त्व पिटक[१] । इन सभी (वर्गीकरणों) का आधार यह है कि जो विनेय जन दु:खमय संसार-सागर से स्वयं की मुक्ति की अभिलाषा तो रखते हैं, किन्तु तात्कालिकरूप से सम्पूर्ण सत्त्वों के हित और सुख के लिए सम्यक् संबुद्धत्व की प्राप्ति का अध्याशय नहीं रख पाते, उन लोगों के लिए चार आर्य सत्य और उनके अनित्यता आदि षोडश आकारों की भावना तथा पुद्गलनैरात्म्य का साक्षात्कार करके क्लेशावरण का प्रहाण करते हुए काल और चर्या के भेद से अर्हत्त्व अथवा प्रत्येकबुद्धत्व प्राप्त करने के उद्देश्य से जो धर्मदेशना

---

१. पिटकत्रयं द्वयं वा सङ्ग्रहत: कारणैर्नवभिरिष्टम् ।
वासनबोधनशमन-प्रतिवेधैस्तद् विमोचयति ।।

द्र०- महायानसूत्रालंकार, ११:१, पृ० ५५ ।

दी गई है, वे सभी बुद्धवचन विरागचर्या अथवा आर्यसत्यनय अथवा श्रावकपिटक कहलाते हैं ।

जो उत्तम विनेय जन सम्पूर्ण सत्त्वों के हित के लिए सम्यक्संबुद्धत्व प्राप्त करने की अभिलाषा रखते हैं, उन लोगों के लिए उपदिष्ट सूत्रवचन, जो दश भूमि तथा छह अथवा दश पारमिताओं की साधना एवं धर्मनैरात्म्य का विभिन्न प्रकार की युक्तियों द्वारा प्रतिवेध कर ज्ञेयावरण के प्रहाण का उपाय बताते हैं, उन्हें पारमिताचर्या अथवा भूमि एवं पारमिता नय अथवा बोधिसत्त्व पिटक कहते हैं ।

अत्यन्त तीक्ष्ण बुद्धि वाले विनेय जन, जो समस्त सत्त्वों के दु:खों को देखकर प्रबल महाकरुणा से प्रेरित होकर अत्यन्त शीघ्रता से या अल्प समय में ही बुद्धत्व प्राप्त करने की दृढ अधिमुक्ति रखते हैं, ऐसे लोगों के लिए जो देवयोग के साथ फल को मार्गीकृत करके पारमिताओं की साधना के अतिगम्भीर एवं विशेष प्रकार के उपाय की देशना की गई है, उसे मन्त्रचर्या अथवा महागुह्य मन्त्रनय कहते हैं । अत: ये बोधिसत्त्व पिटक के अन्तर्गत भी समाविष्ट हो जाते हैं ।

इस प्रकार बौद्ध मन्त्र नय अथवा मन्त्रयान महायान का ही एक विशिष्ट अंग है । अत: इसमें निर्दिष्ट समस्त साधना बुद्धत्व-प्राप्तिमूलक है । अर्हत् अथवा प्रत्येकबुद्ध आदि, जो अपनी मुक्ति मात्र के अभिलाषी हैं, वे भी जब इसके पात्र नहीं हैं तो ऐसी स्थिति में जो मन्त्रयान को मात्र ऐहिक जीवन की सुख-सुविधा का साधन मानते हैं अथवा अभ्युदय मात्र के लिए उसकी साधना में प्रवृत्त होते हैं, इससे बढ़कर और कोई अन्य मूढता नहीं हो सकती ।

बुद्धवचनों को त्रिपिटक में विभाजित करने या संगृहीत करने की दृष्टि से विचार किया जाए तो तन्त्रपिटक सूत्रपिटक के अन्तर्गत गृहीत होता है— ऐसा सुबाहुपरिपृच्छातन्त्र में कहा गया है । इसी के आधार पर आचार्य शान्तिपाद ने तन्त्रपिटक को सूत्रपिटक के अन्तर्गत परिगणित किया है । अभयाकर गुप्त के मतानुसार तन्त्र देशना में तीनों पिटकों की व्यवस्था की गई है । यदि तन्त्र को पृथक् पिटक मानें तो इसे विद्याधरपिटक की संज्ञा दी गई है ।

आचार्य धर्ममित्र आदि अनेक भारतीय विद्वानों के मतानुसार सङ्गीति-कर्त्ताओं ने भी सामान्य महायानसूत्रों की पृथक् सङ्गीति नहीं मानी, अपि तु महाकाश्यप, आनन्द एवं उपालि द्वारा ही महायानसूत्रों का भी संगायन हुआ है—

ऐसा माना गया है । परन्तु आचार्य भावविवेक ने अपनी तर्कज्वाला में उपर्युक्त मत का निराकरण करते हुए अपना मत इस प्रकार उपस्थित किया है :

''जब विपुलगिरि में सामान्य सूत्रों का संगायन हो रहा था, उसी समय विमलसम्भव गिरि पर समन्तभद्र, मञ्जुश्री, गुह्यकाधिपति वज्रपाणि, मैत्रेयनाथ आदि बोधिसत्त्वों द्वारा महायानसूत्रों का सङ्गायन हो रहा था तथा उसी समय समस्त तन्त्रों का सङ्गायन वज्रपाणि द्वारा किया गया'' ।

विदित है कि जिस प्रकार महायान वाङ्मय तथागत के परिनिर्वाण के बाद जम्बूद्वीप (भारत) में सर्व सामान्य रूप से प्रचलन में नहीं रहा, हालाँकि देव या नाग लोक में वह संरक्षित रहा, उसी प्रकार भगवान् बुद्ध द्वारा उपदिष्ट तन्त्र वाङ्मय भी सार्वजनिक तौर पर भारत में प्रचलित नहीं था । आचार्य नागार्जुन आदि महारथियों ने जिस प्रकार महायानसूत्रों को पुनः प्रचलित किया, उसी प्रकार बौद्ध तन्त्रों को भी धीरे-धीरे प्रकाशित किया । इसलिए परम्परागत समस्त आचार्य बौद्ध तन्त्रों को निःसन्दिग्ध रूप से बुद्धवचन ही मानते आए हैं । किन्तु कालान्तर में इन ग्रन्थों में कोई प्रक्षेप नहीं हुआ, ऐसा निःसन्दिग्ध रूप से कहा नहीं जा सकता ।

तन्त्रनय को गुह्यमन्त्र, वज्रयान, फलयान, उपाययान आदि नामों से भी अभिहित किया जाता है । अधिकांश बौद्ध तन्त्र शास्त्रों में 'गुह्यमन्त्र-वज्रफलयान' नाम का ही व्यवहार होता है, यथा— श्री श्रद्धाकर वर्मा के अनुत्तर योगतन्त्रार्थावतारसंग्रह में इसी नाम का व्यवहार उपलब्ध होता है ।

तन्त्र का अर्थ

तन्त्र का अर्थ 'अविच्छिन्न सन्तति' है । पृथग्जन अवस्था से लेकर बुद्धत्व प्राप्ति पर्यन्त निरन्तर प्रवहमान चित्तसन्तति, जो मार्ग द्वारा शोधनीय वस्तु है, वह 'वस्तु-तन्त्र' कहलाती है ।

चित्त का शोधन करने वाले प्रज्ञोपाय-युगनद्ध मार्ग की अविच्छिन्न सन्तति 'मार्ग-तन्त्र' कहलाती है । तथा उस मार्ग से प्राप्य बुद्ध के रूपकाय और ज्ञानकाय के युगनद्धत्व की अविच्छिन्न सन्तति 'फल-तन्त्र' कही जाती है ।

इन वस्तु, मार्ग एवं फल तन्त्रों को विषय बनाकर जो बुद्धवचन उपदिष्ट है, वह वाङ्मय 'तन्त्र-वाङ्मय' कहलाता है ।

गुह्यमन्त्र— अपात्र लोगों से गुह्य रखना या जो उनका (अपात्रों का) विषय नहीं है तथा जिसकी साधना भी गुप्तरूप से करनी होती है, उसे 'गुह्य' कहते हैं । संक्लिष्ट मन का त्राण (रक्षा) करने का उत्तम उपाय होने से यह 'मन्त्र' कहा जाता है । यथा :

तन्मनो मननं ख्यातं कारकत्राणनार्थतः[१] ।

अथवा मन तत्त्व (शून्यता-) ज्ञान है तथा जगत् के त्राण की अभिलाषा करुणा है । इन दोनों के संयोग से ही साधना सम्भव होती है, इसलिए भी 'मन्त्र' कहा जाता है ।

वज्रयान— वज्र का अर्थ अभेद्य अथवा अच्छेद्य है[२] । पारमितानय एवं मन्त्रनय दोनों क्रमशः हेतु एवं फल के रूप में अव्यवहित स्थित हैं और वह यान भी है, इस कारण 'वज्रयान' ऐसा कहा गया है— ऐसा विमलप्रभाटीकाकार[३] का मत है । यहां पर उन दोनों के हेतु-फल के रूप में अभेद का भी एक विशेष व्याख्यान है । सर्वाकारवरोपेत शून्यता हेतु है और परमाक्षर सुख फल है । इन दोनों का अभेद है, इसलिए वह 'वज्र' है । इस पर आधारित यान 'वज्रयान' कहा जाता है— ऐसा सेकोद्देश टीका में कहा गया है[४] । परन्तु यह परिभाषा मात्र अनुत्तर तन्त्र के लिए उपयुक्त है । यह समस्त वज्रयान पर समानरूप से लागू नहीं है । रत्नाकर शान्ति ने गुह्यसमाज की टीका कुसुमाञ्जलिनिबन्ध में प्रज्ञा और उपाय का अभेद रूप से प्रयोग करने वाले वज्रसत्त्व योग को 'वज्रयान' कहा है और इसमें मार्ग एवं फल दोनों की अवस्था निहित है ।

---

१. द्र०-गुह्यसमाजतन्त्र, १८,७०, पृ० १२६ ।

२. दृढं सारमसौषीर्यमच्छेद्याभेद्यलक्षणम् ।
अदाहि अविनाशि च शून्यता वज्रमुच्यते ।। द्र०-अद्वयवज्रसंग्रहे सेकतान्वयसंग्रहः, पृ०-३७ ।

३. वज्रमभेद्यमच्छेद्यं महदिति । तदेव यानं मन्त्रनयं पारमितानयं फलहेत्वात्मकम् एकलोलीभूतम् ।
(द्र०-विमलप्रभा, पृ० १६३) ।

४. द्र०-सेकोद्देशटीका, पृ०-८ ।

फलयान— इसमें फल अर्थात् बुद्धभूमि के काय, स्थान, परिवार एवं उपभोग्य वस्तु के सदृश मार्ग-साधना उपदिष्ट है, इसलिए यह 'फलयान' कहा जाता है ।

उपाययान— पारमितायान से अधिक एवं सशक्त उपायों का अवलम्बन करने के कारण यह 'उपाययान' कहा जाता है ।

तन्त्रयान की विशेषता

तन्त्रयान और पारमितायान दोनों की पृथग् व्यवस्था पर विविध मत

पारमितायान और तन्त्रयान दोनों की पृथग् यान के रूप में व्यवस्था करने का हेतु वस्तुत: क्या है— यह एक विचारणीय प्रश्न है । यह विचार भी इसलिए उत्पन्न होता है, क्योंकि दोनों ही यानों के साधक बोधिचित्त का उत्पाद कर समस्त प्राणियों के कल्याण के लिए सम्यक्संबोधि प्राप्त करना चाहते हैं तथा उनके द्वारा प्राप्त संबोधि में भी किसी प्रकार का कोई न्यूनाधिक भेद नहीं होता । सर्वधर्मनि:स्वभावता अर्थात् शून्यता के बारे में भी दोनों यानों में कोई मौलिक मतभेद नहीं है, क्योंकि आचार्य नागार्जुन ने प्रज्ञापारमितासूत्रों का जैसा अभिप्राय प्रदर्शित किया है, तन्त्रयान में उससे कोई भिन्नता दिखाई नहीं देती । यदि शून्यता के स्वरूप के बारे में कुछ भेद मान भी लिया जाए तो भी इतने से दोनों को पृथग् यान के रूप में व्यवस्थापित नहीं किया जा सकता, क्योंकि विदित है कि योगाचार और माध्यमिक दर्शन-प्रस्थानों में शून्यता के स्वरूप के बारे में कुछ भेद है, तो भी उतने भेद के कारण उन दोनों यानों के पारमितायानी होने में कोई बाधा नहीं होती । छह पारमिताओं की साधना में भी दोनों यानों में कोई मतभेद नहीं है, ऐसी स्थिति में यह प्रश्न अपनी जगह पर पहले की तरह ही स्थित है कि इन दोनों यानों की भेद-व्यवस्था के निगामक तत्त्व क्या हैं ?

(१) कुछ कम समझ लोग ऐसा कह सकते हैं कि राग से युक्त विनेय जनों के लिए तन्त्रयान है, तथा वैराग्य से युक्त विनेय जनों के लिए पारमितायान है । किन्तु उनका ऐसा कहना युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि पारमितायान में भी गृहस्थ बोधिसत्त्व होते हैं, जो ब्रह्मचर्य का पालन नहीं करते । दूसरी तरफ तन्त्रयान में भी विरक्त साधक देखे जाते हैं । तथा दोनों ही के द्वारा बुद्धत्व प्राप्त

किया जाता है । दूसरी विशेष बात यह है कि बिना कामराग का प्रहाण किए किसी भी यान की दृष्टि में बुद्धत्व प्राप्त करना सर्वथा असम्भव है । क्रमशः दोषों के क्षय और सद्गुणों की अभिवृद्धि द्वारा ही बुद्धत्व रूपी लक्ष्य सिद्धि सम्भव होती है ।

(२) कुछ लोग ऐसा कह सकते हैं कि मार्ग का सुख-सहगत होना तथा सुख-सहगत न होना ही दोनों यानों की पृथग् व्यवस्था का हेतु है, किन्तु यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि यह सभी भली-भाँति जानते हैं कि शमथ के द्वारा भी काय-प्रश्रब्धि उत्पन्न होती है, जिससे अत्यन्त सुख और प्रीति का अनुभव होता है तथा चित्त शान्तिपूर्वक आलम्बन में स्थित रहता है । शमथ के इस माहात्म्य को सभी लोग मानते भी हैं । ऐसी स्थिति में उपर्युक्त मत भी समीचीन नहीं है ।

(३) उपर्युक्त मतावलम्बी ऐसा कह सकते हैं कि सुखसहगत मार्ग से हमारा तात्पर्य शुक्ल-बोधिचित्त और रक्त-बोधिचित्त का विशिष्ट संयोग, मर्माघात तथा आर्द्रीभाव द्वारा तत्त्वावबोध होना है । उनका यह कथन भी समीचीन नहीं है, क्योंकि यह विशेषता तो केवल अनुत्तर तन्त्र की ही है । यह क्रिया, चर्या आदि सभी तन्त्रों की सामान्य विशेषता नहीं है । अतः यह भी दोनों यानों की पृथग् व्यवस्था का सम्यग् हेतु नहीं है ।

पृथग् यान-व्यवस्था का सम्यग् हेतु

ऊपर कहा गया है कि पारमितायान और तन्त्रयान दोनों के द्वारा प्राप्त होने वाले बुद्धत्व में कोई अन्तर नहीं है । साथ ही यह भी कहा गया है कि बोधिचित्त, करुणा एवं छह पारमिताओं की भावना आदि उपायों में भी दोनों यानों में कोई भेद नहीं हैं । फिर भी मार्ग में कुछ मौलिक विशेषताएँ हैं, जिनकी वजह से पृथग् यान की व्यवस्था की जाती है ।

विदित है कि भगवान् बुद्ध अपने रूपी कायों द्वारा प्राणियों का सर्वविध कल्याण सिद्ध करते हैं । उन रूपी कायों की सिद्धि के उपायभूत मार्ग में दोनों यानों में अन्तर आ जाता है और इसी कारण पृथग् दो यान व्यवस्थापित किये जाते हैं ।

पारमितायान के अनुसार सर्वधर्मशून्यता धर्मकाय के सदृश (अनुरूप) है । अत: धर्मकाय की प्राप्ति के लिए अनुरूप मार्ग की भावना की जाती है, किन्तु सभी बत्तीस लक्षणों और अस्सी अनुव्यञ्जनों से विभूषित भगवान् के रूपी काय के अनुरूप किसी मार्गभावना का अभ्यास पारमितायान में नहीं किया जाता ।

तन्त्रयान में रूपी काय के अनुरूप मार्गभावना का विधान है । तन्त्र के अनुसार रूपी काय की आकृति के तुल्य देवमण्डलयोग की भावना रूपी काय की सिद्धि का श्रेष्ठ उपाय है । तन्त्र के अनुसार धर्मकाय की सिद्धि के लिए जैसे तत्सदृश शून्यताभावना अपेक्षित है, वैसे रूपी काय की सिद्धि के लिए तत्सदृश देवमण्डलयोग की भावना नितान्त अपेक्षित है ।

बौद्ध न्याय के अनुसार हेतु का भेद फलभेद का नियामक होता है । यदि हेतुभेद होने पर भी फलभेद न हो तो हेतु की व्यर्थता का प्रसङ्ग होगा । ऊपर कहा गया है कि रूपी काय की सिद्धि के उपाय में दोनों यानों में भेद है । ऐसी स्थिति में फलभेद भी अवश्य होना चाहिए । जबकि कहा यह जाता है कि दोनों यानों द्वारा प्राप्त होने वाले फल में कोई भेद नहीं है । फलत: यह एक विचारणीय प्रश्न हो जाता है ।

त्रिकाय की सिद्धि के मार्ग में ऊपर जो भेद कहा गया है, वह केवल शीघ्र फल देने और न देने की दृष्टि से ही है । पारमितायान में जिस त्रिकाय की प्राप्ति के लिए तीन असंख्येय कल्प पर्यन्त ज्ञानसम्भार और पुण्यसम्भार का अर्जन किया जाता है और तब कहीं जाकर त्रिकाय की सिद्धि होती है, वहीं तन्त्रयान का साधक विशेष उपायों का अवलम्बन कर शीघ्र ही इसी जन्म में बुद्धत्व का लाभ कर लेता है । इस शीघ्रगामिता के अलावा न तो मार्ग में कोई तात्त्विक भेद है और न बुद्धत्व फल में ही कोई स्वरूपभेद है । साथ ही हेतु की व्यर्थता का भी प्रसङ्ग नहीं है ।

तन्त्रयान की असाधारण विशेषताएँ

फल में समानता होने पर भी तन्त्रशास्त्रों में उन विशेषताओं का उल्लेख किया गया है, जिनके कारण तन्त्रयान पारमितायान से भिन्न होता है । तथा हि—

एकार्थत्वेऽप्यसंमोहाद् बहूपायाददुष्करात् ।
तीक्ष्णेन्द्रियाधिकाराच्च मन्त्रशास्त्रं विशिष्यते ।।

(द्र०-तत्त्वरत्नावली, पृ० २१) ।

अर्थात् निम्नलिखित चार विशेषताओं के कारण तन्त्रयान पारमितायान से भिन्न होता है । यथा— (क) असंमोह, (ख) उपायबहुलता, (ग) अदुष्करचर्या तथा (घ) तीक्ष्णेन्द्रियता ।

(क) असंमोह

यद्यपि पारमितायानी साधक भी कर्ता, कर्म, क्रिया अथवा देय, दायक और प्रतिग्राहक की नि:स्वभावता के आधार पर ही दान आदि पारमिताओं के अभ्यास में प्रवृत्त होते हैं, अत: उनमें संमोह है, - यह तो नहीं कहा जा सकता, फिर भी उनमें उपायकुशलता की कमी होती है, जिसकी वजह से वे विलम्ब से बोधि प्राप्त करते हैं ।

सभी प्राणियों का सर्वविध कल्याण महायान का उद्देश्य है । इसके लिए पारमितायानी बोधिसत्त्व अपने हाथ, पैर, आँख, सिर, शरीर तक का दान कर देते हैं, किन्तु इससे कितने प्राणियों का हित सिद्ध किया जा सकता है ? इससे सभी का हित सम्भव नहीं है । इतने महान् उद्देश्य की सिद्धि सामान्य उपायों द्वारा नहीं का जा सकती । इसलिए तन्त्रयानी साधक विशेष उपायों का अवलम्बन करते हैं । उनमें उक्त प्रकार का अकौशल भी नहीं है, अत: वे शीघ्र बोधिलाभ करते हैं । देश और काल से अनवच्छिन्न प्रज्ञोपाय-अद्वयसमाधि ही वह उपाय है, जिसके द्वारा तन्त्रयानी साधक समस्त विनेय जनों की युगपद् इष्टसिद्धि करते हैं । इसी समय उनकी समस्त पारमिताएँ भी पूर्ण हो जाती हैं । इसलिए वे इसे छोड़कर अन्य उपायों में अपना समय जाया नहीं करते ।

(ख) उपायबहुलता

पारमितायान में संवर, तपस्या, व्रत, उपवास, आदि विविध शान्त उपाय निर्दिष्ट हैं, किन्तु इनके द्वारा समस्त प्राणी उपकृत नहीं किये जा सकते । तन्त्रयान में नाना आशय, रुचि एवं सामर्थ्य वालों के लिए चार तन्त्रवर्ग उपदिष्ट हैं, जिनमें न केवल शान्त, अपितु रौद्र, बीभत्स, भयानक आदि अनेक उपाय भी प्रदर्शित

हैं । तन्त्रशास्त्रों में ऐसे उपाय भी प्रदर्शित हैं, जिनके द्वारा राग, द्वेष आदि क्लेशों को, जो संसारचक्र के मूल है, उन्हें बुद्धत्व-प्राप्ति के मार्ग के रूप में परिणत कर दिया जाता है । फलतः साधक अपनी सन्तति में स्थित क्लेशों के अनुरूप ही विभिन्न मण्डलों में प्रवेश करते हैं ।

(ग) अदुष्करचर्या

जहाँ तक दुष्करता या अदुष्करता का सवाल है, यह नितान्त बुद्धिसापेक्ष है । किसी-किसी के लिए कष्टकर कार्य भी सुखकर प्रतीत होता है । तन्त्रयानी साधक यथेच्छ उपायों का अवलम्बन कर अपनी इष्टसिद्धि करते हैं । सुख से सुख की उपलब्धि करना तन्त्र की एक विशेषता है । अतः कष्टकर तपश्चरण इसमें आवश्यक नहीं है ।

(घ) तीक्ष्णेन्द्रियता

गम्भीर प्रज्ञा और विस्तृत उपायों से अनभिज्ञ होने के कारण श्रावक मन्देन्द्रिय होते हैं । उपायों की समग्रता से अनभिज्ञ होने के कारण पारमितायानी मध्येन्द्रिय होते हैं तथा तन्त्रयान के साधक सभी प्रकार के मोह से रहित होने के कारण तीक्ष्णेन्द्रिय होते हैं । साथ ही उपायकुशल होने के कारण वे ऐसे-ऐसे कर्मों से भी सुविशुद्ध परम पद प्राप्त करते हैं, जिन कर्मों से सामान्य जन दुर्गति में पतित होते हैं ।

इस प्रकार तन्त्रयान को पारमितायान से भिन्न करने वाली विशेषता प्रज्ञा नहीं, अपि तु उपाय है । पारमितायान में भी दान आदि पाँच पारमिताओं का अनुष्ठान उपाय के रूप में मान्य है, जिससे पुण्यसम्भार का संचय होता है, जो (पुण्यसञ्चय) शून्यता को जानने वाली प्रज्ञा को ज्ञेयावरण के प्रतिपक्ष योग्य बनने में कारण होता है तथा रूपकाय की प्राप्ति में सहायक होता है । परन्तु यह उपाय तन्त्रयान के उपाय की अपेक्षा अवर कोटि का है, जिससे फल-प्राप्ति में अधिक समय लगता है, चर्या करने में दुष्कर है तथा अपूर्ण है । इसलिए तन्त्रयान में जिस विशिष्ट उपाय की देशना की गई है, वह 'देव-मण्डल योग' है । जिसमें समस्त पारमिताओं का अनुष्ठान एक साथ होने के अतिरिक्त साधक के काय को देवता के रूप में उत्पन्न किया जाता है और वज्रदेह की मर्माहति के द्वारा रूपकाय के

की एक विशेषता और है, जो क्लेशों के मार्गीकरण की विधि है । इन सबके कारण मार्ग का मुख्य आलम्बन शून्यता और उसके ज्ञाता ज्ञान में भेद नहीं होने पर भी उपायों की विशेषता, बहुलता और सुगमता के कारण बुद्धत्व प्राप्ति में पारमितायान से वज्रयान अतिविशिष्ट होता है ।

बौद्ध तन्त्र की विशेषता

क्लेश और ज्ञेय आवरणों का प्रहाण करके रूपी काय एवं धर्मकाय से युक्त बुद्धत्व प्राप्त करने का उपदेश सभी बौद्धेतर धर्मों से विशिष्ट है । फलतः इस प्रकार के बुद्धत्व की प्राप्ति के असाधारण मार्ग अर्थात् बौद्ध तन्त्र का भी अन्य बौद्धेतर तन्त्रों से विशिष्ट होना स्वाभाविक है । बौद्ध तन्त्र का चरम उद्देश्य बुद्धत्व प्राप्त करने के अतिरिक्त और कुछ अन्य नहीं है, इसलिए उद्देश्य की भिन्नता से ही इसकी विशेषता स्वयमेव सिद्ध होती है ।

इसका उद्देश्य क्योंकि बुद्धत्व प्राप्त करना ही है, इसलिए बोधिचित्त का उत्पाद किये बिना व्यक्ति बौद्ध तन्त्र का साधारण पात्र भी नहीं बन सकता । समस्त तन्त्र की साधना में महाकरुणा और बोधिचित्त प्रारम्भ में, मध्य में एवं अन्त में अनिवार्य रूप से आवश्यक होते हैं । अतः न केवल बौद्धेतर तन्त्रों से बौद्ध तन्त्र विशिष्ट है, अपि तु श्रावकयान के मार्ग और साधनाओं से भी चित्तोत्पाद के कारण विशिष्ट है ।

साधारण महाकरुणा और बोधिचित्त बोधिसत्त्व को पारमितायान में भी या उसकी साधना में भी अर्हता प्रदान करते हैं, परन्तु तन्त्रयान में प्रवेश के लिए उस प्रकार की साधारण महाकरुणा एवं बोधिचित्त से काम नहीं चलता, बल्कि उसकी अपेक्षा अत्यन्त प्रबल करुणा और बोधिचित्त की अपेक्षा होती है, अतः पारमितायान से भी बौद्ध तन्त्र विशिष्ट है ।

प्रकट रूप से देवमण्डल के देवताओं अथवा मण्डल निर्माण विधि में बौद्धेतर तन्त्र बौद्ध तन्त्र के समान हो सकते हैं, परन्तु उस देवमण्डल के प्रत्येक योग, पूजन, जाप, साधना में अत्यन्त भिन्नता होती है । यह (भिन्नता) ऊपर दर्शाए गए मात्र उद्देश्य और बोधिचित्त की अपेक्षामात्र से ही नहीं है, अपि तु दर्शन का भेद भी इसमें प्रमुख है ।

सामान्य देवमण्डल योग के लिए न्यूनतम चित्तमात्रतादर्शन की अनिवार्यता है । किसी भी तन्त्र साधना के प्रयोगमार्ग के समकक्ष पहुँचने के लिए माध्यमिक दर्शन की अनिवार्यता है । समस्त धर्मों को निःस्वभावता में शुद्ध किए बिना किसी भी देवमण्डल की भावना प्रारम्भ नहीं होती । समस्त पूजन-सामग्री को भी शून्य में विशुद्ध करके पुनः उत्पत्तिक्रम से अधिष्ठित किया जाता है । संक्षेप में बोधिचित्त और शून्यता ज्ञान के बिना बौद्ध तन्त्र का अर्थ ही नहीं रह जाता । बोधिचित्त और शून्यता-ज्ञान दोनों किसी बौद्धेतर तन्त्र में नहीं पाए जाते, इसलिए बौद्ध तन्त्र बौद्धेतर तन्त्रों से पृथक् है ।

प्राणायाम, चक्रभेदन आदि अनेक विधियाँ बौद्ध एवं बौद्धेतर तन्त्रों में समान हो सकती हैं, परन्तु इन विधियों से प्राप्त होने वाले शारीरिक परिवर्तनों अथवा सुख-संवेदनाओं को बोधिचित्त और शून्यता-ज्ञान से मार्गीकृत किए बिना ये सब मात्र शारीरिक एवं लौकिक क्रिया मात्र सिद्ध होंगी, जिससे आध्यात्मिक उत्कर्ष सम्भव नहीं होगा । बौद्ध तन्त्र में इन सब विधियों को बोधिचित्त और शून्यताज्ञान के सहयोग से बुद्धत्व प्राप्ति के मार्ग के रूप में विनियुक्त किया जाता है । इसलिए यह अन्य तन्त्रों से विशिष्ट है ।

तन्त्र के भेद

प्रज्ञा के विषय (शून्यता) एवं (उस शून्यता के) ज्ञान में कोई भेद नहीं होने पर भी उसके साथ संयुक्त होने वाले उपायों के भेद से यानभेद होता है । इसी प्रकार वज्रयान के अन्तर्गत होने पर भी देवयोग-उपाय के द्वारा क्लेशों को मार्गीकृत करने की क्षमता के भेद से भी तन्त्रों के चार भेद किए गए हैं । अर्थात् जो विनेय जन विभिन्न स्तर के क्लेशों को मार्गीकृत करने की तथा उसके अनुरूप देवयोग-भावना करने की विभिन्न क्षमता रखते हैं, उसके अनुरूप ही विभिन्न चार तन्त्रों की देशना की गई है[१] ।

क्रियातन्त्र

जो विनेय जन भाव्यमान विद्या के साथ परस्पर ईक्षण द्वारा उत्पादित राग को मार्गीकृत करने में सक्षम हैं तथा उतने (ईक्षण) से उत्पन्न सुख को शून्यताज्ञान

१. द्र०-सम्पुटतन्त्र, वज्रपञ्जरतन्त्र ।

के साथ सम्प्रयुक्त करने की क्षमता रखते हैं, किन्तु इतने राग से अधिक राग को मार्गीकृत करने तथा उतने सुख से अधिक सुख को शून्यता-ज्ञान से सम्प्रयुक्त करने की क्षमता नहीं रखते, ऐसे विनेय जन क्रियातन्त्र के पात्र हैं । अर्थात् उनके लिए क्रियातन्त्र की देशना की गई है ।

चर्यातन्त्र

जो विनेय जन भाव्यमान विद्या के साथ हास द्वारा उत्पादित राग को मार्गीकृत कर सकते हैं तथा उससे उत्पन्न उतने सुख को शून्यताज्ञान के साथ सम्प्रयुक्त करने की क्षमता रखते हैं, किन्तु इससे अधिक राग को मार्गीकृत करने तथा उतने सुख से अधिक सुख को शून्यताज्ञान के साथ सम्प्रयुक्त करने की क्षमता नहीं रखते-ऐसे विनेय जनों के लिए 'चर्यातन्त्र' की देशना की गई है ।

योगतन्त्र

जो विनेय जन भाव्यमान विद्या के साथ आलिङ्गन द्वारा उत्पादित राग को मार्गीकृत कर सकते हैं तथा उससे उत्पन्न उतने सुख को शून्यता-ज्ञान के साथ सम्प्रयुक्त करने की क्षमता रखते हैं, किन्तु इससे अधिक राग को मार्गीकृत करने तथा उतने सुख से अधिक सुख को शून्यताज्ञान के साथ सम्प्रयुक्त करने की क्षमता नहीं रखते, ऐसे विनेय जनों के लिए 'योगतन्त्र' की देशना की गई है ।

अनुत्तरतन्त्र

जो विनेय जन भाव्यमान विद्या तथा कर्ममुद्रा के साथ भी द्वीन्द्रियसमापत्ति तक के द्वारा उत्पादित राग को मार्गीकृत कर सकते हैं तथा उससे उत्पन्न सहज सुख अथवा परमाक्षर सुख को शून्यताज्ञान के साथ सम्प्रयुक्त करके शीघ्रातिशीघ्र समस्त क्लेश और ज्ञेय आवरणों का प्रहाण करने में सक्षम होते हैं, ऐसे विनेय जनों के लिए 'अनुत्तरतन्त्र' की देशना की गई है ।

इस प्रकार अनुत्तरतन्त्र की दृष्टि से चार तन्त्रों का वर्गीकरण करते समय इन्हें ईक्षण तन्त्र, हास तन्त्र, आलिङ्गन तन्त्र तथा द्वीन्द्रिय-समापत्ति तन्त्र के नाम से भी श्रीवज्रहृदयालङ्कार तन्त्र में कहा गया है ।

सामान्य रूप से क्रिया, चर्या आदि के भेद से जो वर्गीकरण किया गया है, वही अधिक प्रचलित है । इन नामों से एक दूसरे प्रकार के तन्त्रभेद का व्याख्यान भी उपलब्ध होता है ।

इस व्याख्यान के आधार पर जिस तन्त्र में देवयोग-उपाय की साधना करते समय बाह्य कर्मों (स्नान, आसन आदि) पर अत्यधिक आश्रित होना पड़ता है तथा आन्तरिक समाधि और बाह्य क्रिया में बाह्य क्रिया ही प्रधान होती है, इस प्रकार के तन्त्र को 'क्रिया तन्त्र' कहते हैं ।

देवयोग-उपाय की साधना मे जिस तन्त्र में बाह्य विधि-विधानों और आन्तरिक समाधि दोनों को समान महत्त्व दिया जाता है, किन्तु बाह्य कर्मों पर कुछ विशेष निर्भर रहा जाता है, उस प्रकार के तन्त्र को 'चर्यातन्त्र' कहते हैं ।

देवयोग-उपाय की साधना करते समय जिस तन्त्र में बाह्य विधि-विधानों एवं आन्तरिक समाधि इन दोनों में आन्तरिक समाधि को अधिक महत्त्व दिया जाता है, फिर भी सीमित बाह्य कर्म भी अनिवार्य समझे जाते हैं, उस तन्त्र को 'योगतन्त्र' कहते हैं ।

जिस तन्त्र में बाह्य विधानों पर कभी आश्रित नहीं रहा जाता, बल्कि आन्तरिक समाधि के अनुत्तरयोग को अधिक महत्त्व दिया जाता है, उसे 'अनुत्तर तन्त्र' कहते हैं । श्री वज्रहृदयालङ्कारतन्त्र में चर्या तन्त्र को 'उभय तन्त्र' कहा गया है[१] ।

सामान्य गुह्यतन्त्र, सुसिद्धिकरमहातन्त्र, सुबाहुपृच्छातन्त्र, ध्यानोत्तरतन्त्र आदि क्रियातन्त्र के प्रमुख एवं सम्पूर्ण मार्गफल-व्यवस्था को दर्शाने वाले तन्त्र हैं ।

चर्यातन्त्र के प्रमुख तन्त्र वैरोचनाभिसम्बोधितन्त्र आदि हैं ।

उसी प्रकार श्रीतत्त्वसंग्रहतन्त्र, वज्रशेखरभाष्यतन्त्र आदि योगतन्त्र के प्रमुख तन्त्र हैं ।

---

१. द्र०-श्रीवज्रहृदयालङ्कारतन्त्र ।

अनुत्तरयोगतन्त्र में पितृतन्त्र गुह्यसमाज तथा मातृतन्त्र हेवज्र एवं चक्रसंवरतन्त्र प्रमुख हैं । उन तन्त्रों से भिन्न कालचक्रतन्त्र आदि अनुत्तरतन्त्र के प्रमुख तन्त्र हैं ।

वैसे चारों तन्त्रों के अन्तर्गत असंख्य तन्त्र विद्यमान थे, परन्तु सम्प्रति जो चीनी या तिब्बती अनुवादों में उपलब्ध हैं, उनके अतिरिक्त विशाल वाङ्मय अनुपलब्ध है । इन चारों तन्त्रों की सामान्य मार्ग-व्यवस्था में अनेक प्रकार के अवान्तर भेद होते हैं, जिन्हें संक्षेप में मार्गप्रवेश या तन्त्रप्रवेश, अभिषेक, समय, संवर, उपासना, क्रमद्वययोग, सिद्धि एवं विविध कर्मानुष्ठान आदि में समाहित किया जा सकता है ।

अभिषेक

प्रथम दो तन्त्रों (क्रिया एवं चर्या) के अभिषेक के लिए चूर्णमण्डल, पटमण्डल अथवा ध्यानमण्डल, वर्टिकल (ऊर्ध्वाधर) मण्डलों में से किसी एक की आवश्यकता होती है । अभिषेक के समय बोधिसत्त्वसंवर मात्र लेना पड़ता है । इसलिए 'समय' भी बोधिसत्त्व मूलापत्ति एवं दुष्कृतमात्र होते हैं । इन दोनों तन्त्रों में कलश-अभिषेक के अतिरिक्त अन्य अभिषेक नहीं होते । कलशाभिषेक में भी जल एवं मुकुट अभिषेक की व्यवस्था है ।

योगतन्त्र में भी अभिषेक के मण्डल उपर्युक्त दो तन्त्रों के समान ही हैं । परन्तु अधिकांशतया योगतन्त्र के अभिषेक के पूर्व मन्त्रसंवर लेना होता है । इसके 'समय' में बोधिसत्त्वसंवर के समस्त समयों के अतिरिक्त मन्त्रसंवर के समयों का भी पालन करना होता है ।

अभिषेक में भी मात्र कलश-अभिषेक होता है । परन्तु पूर्वगामी दो तन्त्रों से अतिरिक्त वज्राचार्य-अभिषेक सहित सम्पूर्ण ११ कलशाभिषेक इस तन्त्र में दिये जाते हैं ।

क्रिया और चर्यातन्त्र में समस्त देव मुख्यत: तीन कुलों में समाविष्ट होते हैं, यथा— तथागतकुल, पद्मकुल एवं वज्रकुल । योगतन्त्र में तथागतकुल, रत्नकुल, पद्मकुल, कर्मकुल एवं वज्रकुल-इस तरह पाँच कुल होते हैं ।

क्रिया, चर्या और योगतन्त्र— इन तीनों की साधना में अनेक आन्तरिक भेद होते हुए भी बाह्य कर्मों में समता है । इन तीनों तन्त्रों में साधक की वस्तु-अवस्था के जन्म, मरण एवं अन्तराभव के समानाकार मार्ग की भावना नहीं होती, न ही वज्रदेह को मर्माहत करने की कोई प्रक्रिया है । इसलिए इन तीनों तन्त्रों में उत्पत्तिक्रम तथा निष्पन्नक्रम की भी व्यवस्था नहीं होती । इसके स्थान पर देवयोग में सनिमित्त और निर्निमित्त योग की भावना की जाती है । शून्यता का अध्यवसाय करने वाले ज्ञान के बल के बिना क्षीण हुए, देवमण्डल की स्पष्ट भावना अथवा भावित देवमण्डल की शून्यता का साक्षात्कार करने वाले योग को 'निर्निमित्त योग' कहते हैं ।

इसी प्रकार शून्यता का अध्यवसाय करने वाले ज्ञान या शून्यता के साक्षात्कार से रहित रहते हुए भावित देवमण्डल के योग को 'सनिमित्त योग' कहते हैं ।

इस प्रकार का देवयोग करते समय जप, उपासना, पूजन, अर्चन, हवन, प्राणायाम आदि उपायों से योग होता है और दीर्घायुष्य आदि सामान्य सिद्धियों के लाभ के साथ बुद्धत्व प्राप्त करने की साधना चलती है । इसलिए इन तीनों तन्त्रों में एक जीवन में बुद्धत्व प्राप्ति के उपाय तो है, परन्तु इस एक शरीर में या इस कषायात्मक युग के सामान्य अल्पकालिक शरीर में बुद्धत्व प्राप्ति के उपाय नहीं हैं ।

चारों तन्त्रों में सर्वश्रेष्ठ अनुत्तर योगतन्त्र में प्रवेश करने के लिए विनेय जन को सर्वप्रथम सामान्य मार्गों से भली प्रकार चित्त का विशोधन करके निःसरण-चित्त, बोधिचित्त और सम्यग् दर्शन प्राप्त होना चाहिए । सामान्य बोधिसत्त्वों से विशेष प्रकार की करुणा तथा अध्याशय से प्रेरित होकर तीन असंख्येय कल्प पर्यन्त सम्भार के सञ्चय में समय न गवाँ कर अतिशीघ्रता के साथ बुद्धत्व प्राप्त करने के अभिलाषी साधक परम गुह्य मन्त्र मार्ग के प्रति अवेत्य-प्रसाद (ज्ञानपूर्विका श्रद्धा) से युक्त होकर इस मार्ग के लिए उन्मुख होते हैं । ऐसे साधक सर्वप्रथम गुरुपञ्चाशिका आदि का अध्ययन करके लक्षणयुक्त गुरु की खोज करके उनसे तन्त्र का प्रवेश-द्वार अर्थात् अभिषेक प्राप्त करते हैं । अनुत्तरतन्त्र के अभिषेक के लिए अन्य तीन तन्त्रों के अवसर पर उल्लिखित विभिन्न प्रकार के मण्डलों के अतिरिक्त देहमण्डल, भगमण्डल, संवृतिबोधिचित्तमण्डल, परमार्थ-

बोधिचित्तमण्डल आदि विभिन्न मण्डल भी विभिन्न अभिषेकों के लिए होते हैं । कालचक्र तन्त्र के अतिरिक्त सभी अनुत्तर तन्त्रों में अभिषेक की संख्या चार में नियत है । कलश-अभिषेक, गुह्याभिषेक, प्रज्ञाज्ञानाभिषेक और शब्दाभिषेक (नामाभिषेक) या चतुर्थाभिषेक ये नार होते हैं ।

देवमण्डल की भिन्नता से कलशाभिषेक की संख्या में भिन्नता आ सकती है, परन्तु इनकी अधिकतम संख्या सामान्यरूप से ११ होती है । समस्त अनुत्तर तन्त्र के अभिषेक के लिए बोधिसत्त्वसंवर एवं मन्त्रसंवर की पूर्वगामिता अनिवार्य है । मन्त्रसंवर में ५ कुलों के सामान्य एवं विशेष 'समय' लेने होते हैं ।

भेद— अनुत्तर तन्त्र के दो प्रमुख भेद हैं— मातृतन्त्र एवं पितृतन्त्र । जिन तन्त्रों में सहज सुख द्वारा शून्यता का साक्षात्कार करने वाले परमार्थ प्रभास्वर मार्ग को प्रमुख अभ्यसनीय बनाया जाता है, उसे 'मातृतन्त्र' कहते हैं । तथा अतिसूक्ष्म पञ्च रश्मिवायु से उदित मायाकाय को प्रमुख रूप से अभ्यसनीय बनाने वाले तन्त्रों को 'पितृतन्त्र' कहते हैं । मातृतन्त्र एवं पितृतन्त्र को क्रमशः प्रज्ञातन्त्र एवं उपायतन्त्र भी कहते हैं । क्योंकि फलभूत बुद्धकाय के उपादानकारण पिता के बिन्दु के समान मायाकाय का प्रधानरूप से निर्देश करने के कारण वह 'पितृतन्त्र' है तथा प्रज्ञा-उपाय भेद में मायाकाय उपाय होने के कारण वह 'उपायतन्त्र' भी कहलाता है । प्रभास्वर एवं शून्यता-ज्ञान, जो परमार्थतः अद्वय हैं, वह (अद्वयीभाव) धर्मकाय का उपादान कारण होने के कारण माता के सदृश होता है, अतः उसे मुख्यरूप से निर्दिष्ट करने वाले तन्त्र को 'मातृतन्त्र' कहते हैं । वह प्रभास्वर प्रज्ञा-उपाय में से प्रज्ञा होने के कारण 'प्रज्ञातन्त्र' शब्द से भी व्यवहृत होता है ।

समस्त अनुत्तर तन्त्रों की साधना को पिण्डीकृत करने पर वे क्रमद्वययोग में समाविष्ट हो जाते हैं, यथा— प्रथमक्रम अथवा उत्पत्तिक्रम तथा द्वितीयक्रम अथवा निष्पन्नक्रम ।

उत्पत्तिक्रम

फल की अवस्था याने बुद्धत्व की अवस्था को मार्ग की अवस्था में ही मार्गीकृत करके साधना करना, क्लेशों को मार्ग का सहयोगी बनाना या मार्गीकृत करना तथा वज्रदेह को मर्माहत करके नाडी योग और वायु योग द्वारा सूक्ष्म चित्त

को सुख-स्वभाव में उत्पन्न करके शून्यता की भावना करना अनुत्तर तन्त्र का सार है ।

निष्पन्नक्रम की अवस्था में कुम्भक अथवा वज्रजाप आदि से चक्र-भेदन करना आदि जो मार्ग की साधना है, उसका पात्र बनने के लिए उत्पत्तिक्रम की स्थिति में ही वस्तुगत अवस्था के जन्म, मरण एवं अन्तराभव के सदृश मार्ग की भावना करना अनिवार्य होता है । इसके अतिरिक्त तन्त्र मार्ग का मुख्य प्रहेय साधारण (प्राकृत) आभास एवं अभिनिवेश होता है, जिसके प्रहाण के लिए जैसे एक साधारण शेक्ष्य पुद्गल मार्गक्रम का अभ्यास करता है और उसके द्वारा क्रमशः बुद्धत्व प्राप्त करता है, उसके सदृश स्वयं साधक का इष्टदेव के रूप में अपने को क्रमशः उत्पन्न करना और उत्पत्ति के पश्चात् इष्टदेव के अहं में स्थित होकर सत्त्वों के हितार्थ क्रिया करना, पूजा, अर्चना आदि ग्रहण या स्वीकार करना और देवता के अहं में रहते हुए मन्त्रजप की उपासना करना आदि उत्पत्तिक्रम के मार्ग में आते हैं ।

सामान्य मार्ग के द्वारा चित्त की सर्वप्रथम शुद्धि करके साधक लाक्षणिक वज्राचार्य से प्रामाणिक अभिषेक प्राप्त करता है । तत्पश्चात् समय एवं संवर का भलीप्रकार पालन करते हुए साधना स्थल पर स्थिर रूप से स्थित होकर उत्पत्तिक्रम में प्रवेश किया जाता है । सर्वप्रथम त्रिशरणगमन, बोधिचित्तोत्पाद, विशेष बोधिचित्तोत्पाद करके एकक्षण में अपने को इष्टदेव के रूप में उत्पन्न किया जाता है । तत्पश्चात् यथोत्पादित देव का धीरे-धीरे प्रभा में विलय करके उसे धीरे-धीरे शून्य में विलीन किया जाता है ।

विलय के क्रम में वस्तुगत अवस्था की मृत्यु के सदृश महाभूतों के क्रमशः विलीन होने के बाह्य और आन्तरिक लक्षणों के उत्पन्न होने की भावना की जाती है । जब समस्त वस्तुओं का शून्य में विलय हो जाता है तो उस समय समस्त आभासों का अभाव (शून्य), तदाभासी चित्त द्वारा निःस्वभावता का ग्रहण, सुखवेदना के स्वभाव में समाहित होना— ये तीनों उस चित्त के गुण होते हैं । यह अवस्था मृत्यु के सदृश है ।

इस समाहित अवस्था से जब व्युत्थान होता है तो शून्यता से अद्वय (अभिन्न) धर्मकाय की प्राप्ति का अहं रखा जाता है । यह अवस्था मृत्यु के **धर्मकाय के रूप में मार्गीकरण** की अवस्था है ।

उस अहं से यह विचार उत्पन्न होता है कि शून्यतामय धर्मकाय में रहने से सत्त्वार्थ कुछ भी नहीं किया जा सकेगा, अतः रूपी काय के उत्पाद की आवश्यकता है । इस संकल्प के साथ शून्य में विलीन चित्त को बीजाक्षर अथवा आयुध एवं अलंकार के रूप में उत्पन्न किया जाता है । उस पर सम्भोगकाय की प्राप्ति का अहं रखा जाता है । इस अवस्था को अन्तराभव के सम्भोग काय के रूप में मार्गीकरण की अवस्था कहते हैं ।

इसमें कुछ देर स्थित रहने के बाद फिर विचार किया जाता है कि सम्भोग-काय में स्थित रहने पर भी आर्यबोधिसत्त्वों के अतिरिक्त जन साधारण का हितसाधन नहीं किया जा सकता । अतः हमें विभिन्न प्रकार के निर्माणकायों की प्राप्ति करनी चाहिए, इस विचार से प्रेरित होकर क्रमशः रक्षाचक्र, विमान और समस्त मण्डलों के साथ स्वयं का देवता के रूप में उत्पाद किया जाता है । उस उत्पादित देवता में निर्माणकाय की प्राप्ति का अहं रखा जाता है । यह अवस्था जन्म के निर्माणकाय के रूप में मार्गीकरण की अवस्था है ।

स्वयं को देव के रूप में उत्पन्न करना, समस्त रक्षाचक्र सहित विमान को उत्पन्न करना आदि फलावस्था की क्षेत्र परिशुद्धि, कायपरिशुद्धि का मार्गीकरण है । विमान-मण्डल में देवपरिवार की उत्पत्ति परिवार-परिशुद्धि का मार्गीकरण है । सभी देवमण्डलों की उत्पत्ति के पश्चात् स्वयं (अपने) से पूजा करने वाली देवियों को उत्पन्न कर उनसे देवमण्डल की पूजा कराई जाती है तथा बाह्य, आन्तरिक, गुह्य एवं तत्त्व पूजाओं का ग्रहण करके सहजसुख का उत्पाद किया जाता है । यह फलावस्था की उपभोग-परिशुद्धि का मार्गीकरण है । तत्पश्चात् मन्त्रचक्र की भावना के साथ मन्त्रजप किया जाता है तथा शान्ति, पुष्टि, वशिता, रौद्र आदि विभिन्न कर्मों के द्वारा सत्त्वों का हित सम्पन्न किया जाता है । यह फल-अवस्था की कर्मपरिशुद्धि का मार्गीकरण है ।

उत्पत्तिक्रम के समय देह को देवकाय के रूप में उत्पन्न करना, विभिन्न अंगों एवं इन्द्रियों पर देव या बीज अक्षरों का न्यास करना, निर्मित देवगण तथा प्रभा (रश्मि) का प्रस्फुरण एवं उपसंहरण करना आदि से नाडी, चक्र एवं शरीर के मर्मस्थलों का शोधन एवं परिपाक होने से निष्पन्नक्रम की योग्यता प्राप्त होती है ।

देवमण्डल एवं देवसमूह के अस्पष्ट आकारमात्र का स्पष्ट आभास होने पर एवं उसमें स्थिरता प्राप्त होने पर स्थूल उत्पत्तिक्रम में पारङ्गति प्राप्त होती है । मण्डल और देवसमूह की चक्षुष्-रेखा तक के समस्त सूक्ष्म आकारों का जब अत्यन्त स्पष्ट आभास होने लगता है और जब उसमें स्थिरता प्राप्त हो जाती है, तब सूक्ष्म उत्पत्तिक्रम में पारङ्गति मानी जाती है ।

निष्पन्नक्रम

समयी योगी अनुत्तरतन्त्र मार्ग में प्रविष्ट होकर इष्ट देवमण्डल योग के स्थूल एवं सूक्ष्म उत्पत्तिक्रम में पारंगत हो, मन्त्र, 'हूँ' -सहित उपासनाओं में पूर्ण हो, वज्रसत्त्व की भावना और जप करने के पश्चात् निष्पन्नक्रम में प्रवेश का अधिकारी हो जाता है ।

प्रारम्भ में काय की आभ्यन्तरिक रिक्तता, उसके मध्य में त्रिनाडी एवं चक्रों की भावना और नाडी-चक्रों के शोधन की प्रक्रिया आदि करना होता है । इसके बाद मौल निष्पन्नक्रम में प्रवेश किया जाता है ।

निष्पन्नक्रम को कायविवेक, वाग्विवेक, चित्तविवेक, मायाकाय, प्रभास्वर एवं युगनद्ध के छह क्रमों में (आर्यदेवकृत) चर्यासमुच्चयप्रदीप में तथा मूल गुह्यसमाजतन्त्र के षष्ठ अध्याय आदि में सुविभक्त किया गया है । पञ्चक्रम आदि में कायविवेक को चित्तविवेक के अन्तर्गत समाविष्ट करके पाँच क्रमों में विभाजित किया गया है । नागबोधि की व्यवस्थावलि में एवं प्रथम पटल की प्रदीपोद्योतन टीका में काय, वाक्, चित्तविवेकों को एक ही क्रम में समाविष्ट करके चार क्रम की भी व्यवस्था की गई है । परन्तु ये विभिन्न क्रमविभाजन मात्र देशना व्यवस्था की दृष्टि से हैं, साधना में न्यूनाधिक कुछ भी अन्तर नहीं होता ।

समाजोत्तर तन्त्र में निष्पन्नक्रम को षड्योगक्रम में भी विभक्त किया गया है, यथा— प्रत्याहार, ध्यान, प्राणायाम, धारणा, अनुस्मृति, समाधि[१] । इस षडंग योग के प्रत्याहार एवं ध्यान दोनों कायविवेक के, धारणा प्रभास्वर के तथा अनुस्मृति एवं समाधि युगनद्ध के अन्तर्गत गृहीत होते हैं । कुम्भक में वायु धारण

---

१. प्रत्याहारस्तथा ध्यानं प्राणायामोऽथ धारणा ।
अनुस्मृतिः समाधिश्च षडङ्गो योग उच्यते ।।
द्र०-गुह्यसमाज १८ : १४०, पृ० १३२ तथा सेकोद्देशटीका, पृ० ३० ।

आदि के उपाय से समापत्ति-अवस्था में वायु के अवधूती में प्रवेश, स्थिति एवं विलीन होने का कार्य प्रारम्भ होता है, जिससे धातु का ज्वलन एवं स्रवण होने लगता है, इससे सहज सुख प्राप्त होता है और शून्यता में स्थिति होती है । जिसके बल से पृष्ठलब्ध अवस्था में समस्त भाजन एवं सत्त्वों के प्रति साधारण आभास एवं अभिनिवेश का अवरोध होता है तथा जो भी प्रतिभास होता है, वह सब सुख और शून्यता के स्वभाव में प्रतिभासित या प्रतीत होता है, इसे 'कायविवेक' कहा जाता है ।

इस साधना की निरन्तरता से हृदय की नाडी-ग्रन्थि किंचित् शिथिल होती है और उसमें वायु का प्रवेश, स्थिति एवं विलय की प्रक्रिया प्रारम्भ होने के कारण आलोक, आलोकाभास एवं आलोकोपलब्धि का अनुलोम-प्रतिलोम क्रम सम्पन्न होता है । इस प्रक्रिया में प्रतिलोम क्रम के आलोक का उदय होने पर 'वाग् विवेक' की अवस्था प्राप्त होती है ।

वाग्विवेक की अवस्था प्राप्त होने के पश्चात् वज्रजाप, प्राणायाम एवं कर्ममुद्रा के सेवन आदि के उपायों से व्यान वायु के अतिरिक्त समस्त मूल एवं अवयव वायुएं व्यान वायु के कुछ अंश सहित हृदयस्थित अविनाश्य बिन्दु में विलीन होते हैं एवं समस्त हृदयचक्र की नाडी-ग्रन्धियों का विमोचन हो जाता है । उससे उत्पन्न आलोक, आलोकाभास आदि का अनुलोम-प्रतिलोमक्रम में उदय होता है । प्रतिलोम के क्रम में आलोक का उदय होने पर 'चित्तविवेक' की अवस्था प्राप्त होती है ।

इसके अनन्तर आन्तरिक और बाह्य उपायों के साथ अनुभेद एवं पिण्डग्राह का अभ्यास करने से व्यान-सहित समस्त वायु का मृत्यु-अवस्था की भाँति हृदय में प्रवेश, स्थिति एवं विलय होने से आलोक से लेकर प्रभास्वर तक अनुलोम में उदय होता है और उसी प्रभास्वर की अवस्था में अतिसूक्ष्म (हृदयस्थ अविनाश्य) वायु के उपादान से स्थूल काय से पृथक् सूक्ष्म काय का उत्थान होता है । उसे 'मायाकाय' कहते हैं ।

मायाकाय में स्थित होकर सुखमय चित्त से शून्यता की निरन्तर भावना करने से निर्विकल्परूप से जब शून्यता का साक्षात्कार होता है तो 'प्रभास्वर' की अवस्था प्राप्त होती है ।

उस प्रभास्वर की समापत्ति से व्युत्थान होने पर महापुरुष-लक्षण एवं अनुव्यञ्जनों से युक्त मायाकाय एवं सुखमय प्रभास्वर की सन्तति के पृष्ठलब्ध ज्ञान— इन दोनों के युगनद्ध को 'शैक्ष्य युगनद्ध' कहते हैं । इस अवस्था में गुरु को गणपूजा से प्रसन्न करके अन्तिम अववाद प्राप्त कर साधक पुनः शून्यता में साक्षात् समापन्न होता है और तब उसे शैक्ष्यान्त प्रभास्वर प्राप्त होता है, जिससे समस्त ज्ञेय आवरणों का प्रहाण होने पर जब विमुक्ति मार्ग में प्रवेश होता है, तब 'अशैक्ष युगनद्ध' की स्थिति आती है, जो 'वज्रधर' का पद कहलाता है ।

भूमि-मार्ग व्यवस्था

अनुत्तरतन्त्र को छोड़कर अन्य तीनों तन्त्रों की भूमि-मार्ग-व्यवस्था पारमितायान की भूमिमार्ग-व्यवस्था से विशेष भिन्न नहीं हैं । यद्यपि तन्त्रों में भूमि या मार्ग का स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता है, तथापि पारमितायान में प्रचलित एवं आवरणों के प्रहाण के क्रम से स्थापित मार्ग और भूमि की व्यवस्था के अनुसार तन्त्र में भी उनकी सामान्य व्यवस्था की जा सकती है । इस प्रकार की व्यवस्था में क्रियातन्त्र में किसी भी क्रियातन्त्र के मण्डल में अभिषेक प्राप्त करके मार्ग-प्रवेश से लेकर शब्दान्त ध्यानभावना से शून्यता-बोध की विपश्यना प्राप्त होने तक क्रियातन्त्र का 'सम्भारमार्ग' माना जा सकता है । शून्यताबोध की विपश्यना प्राप्ति से लेकर शून्यता के साक्षात्कार तक 'प्रयोगमार्ग' की अवस्था, शून्यता के साक्षात्कार से लेकर भावना मार्ग के अधिमात्र-अधिमात्र प्रहेय क्लेश के साक्षात् प्रतिपक्ष के उत्पाद तक 'दर्शनमार्ग', अधिमात्र-अधिमात्र प्रहेय क्लेशों के साक्षात् प्रतिपक्ष के उत्पाद से लेकर बुद्धत्व प्राप्ति के अव्यवहित पूर्व तक 'भावना मार्ग' तथा उसके अनन्तर 'अशैक्षमार्ग' की अवस्था आती है ।

उसी प्रकार दर्शनमार्ग में प्रथमभूमि, मृदु-मृदु भावनामार्ग में द्वितीयभूमि, मृदु-मध्य में तृतीय भूमि, मृदु-अधिमात्र में चतुर्थ भूमि, उसी तरह मध्यमृदु, मध्यमध्य एवं मध्य-अधिमात्र में पञ्चम, षष्ठ एवं सप्तम भूमि, इसके बाद अधिमात्र-मृदु, अधिमात्रमध्य एवं अधिमात्र-अधिमात्र के एक साथ प्रहाण करने वाले भावनामार्ग की अवस्था में आठवीं भूमि, स्थूल ज्ञेयावरण के प्रतिपक्ष के साथ नौवी भूमि, सूक्ष्म ज्ञेयावरण के प्रतिपक्ष के साथ दशम भूमि की व्यवस्था की जा सकती है ।

चर्यातन्त्र और योगतन्त्र में भी कोई विशेष भिन्नता नहीं है । अभिषेक प्राप्ति से लेकर अनिमित्त योग की भावना से शून्यता-बोध की विपश्यना प्राप्ति तक 'सम्भार मार्ग' तथा इससे ऊपर की सारी भूमि-मार्ग की व्यवस्था में क्रियातन्त्र में उल्लिखित व्यवस्था से कोई फर्क नहीं है, अपितु समान ही है । इन तीनों तन्त्रों में अधिकांश आचार्य बुद्धत्व की प्राप्ति अकनिष्ठ क्षेत्र में मानते हैं ।

अनुत्तर तन्त्र में अभिषेक प्राप्ति से लेकर निष्पन्न-क्रम के प्रथम अधिगम तक 'सम्भार मार्ग', निष्पन्न क्रम के प्रथम अधिगम से लेकर उपमेय प्रभास्वर की प्राप्ति तक 'प्रयोग मार्ग' उपमेय प्रभास्वर से लेकर शैक्ष्य युगनद्ध अवस्था की प्राप्ति तक 'दर्शन मार्ग' शैक्ष्य युगनद्ध की अवस्था से लेकर शैक्ष्यान्त प्रभास्वर की प्राप्ति तक 'भावनामार्ग' तथा शैक्ष्यान्त प्रभास्वर के पश्चात् 'अशैक्ष मार्ग' की अवस्था होती है ।

अनुत्तरतन्त्रयान का मुख्य प्रहेय साधारण आभास एवं अभिनिवेश है । साधारण अभिनिवेश क्लेशावरण एवं साधारण आभास ज्ञेयावरण है । समस्त क्लेशावरण चतुर्थ क्रम के उपमेय प्रभास्वर की अवस्था में युगपद् प्रहीण हो जाते हैं । समस्त ज्ञेयावरण शैक्ष्यान्त उपमेय प्रभास्वर से युगपत् प्रहीण होते हैं । इसलिए प्रहेयों के प्रहाणक्रम अर्थात् मृदु-मध्य-अधिमात्र आदि भावना मार्ग क्रम के आधार पर मार्गों तथा १० भूमियों की व्यवस्था पूर्वोक्त पारमितायान की तरह नहीं होती, फिर भी प्रभास्वर ज्ञान को ज्ञेय आवरण के प्रहायक प्रतिपक्ष योग्य बनाने के लिए जो पुण्यसम्भार की अथवा उपायपक्ष की आवश्यकता होती है, उसकी वृद्धि के क्रम से १० भूमि अथवा ९ भावना मार्ग के क्रम की व्यवस्था की जा सकती है । ज्ञेय आवरणों का एकसाथ प्रहाण कर बुद्धत्व प्राप्त करने के लिए अकनिष्ठ क्षेत्र की अनिवार्यता भी नहीं होती ।

अनुत्तर तन्त्र-यान की दृष्टि से मात्र पारमितायान के मार्गों से तथा अन्य तन्त्रयान के मात्र मार्गों से बुद्धत्व प्राप्त नहीं हो सकता । पारमितायान के मार्ग से चरमभविक अवस्था तक पहुँचा हुआ भी साधक अन्ततोगत्वा अनुत्तर तन्त्र मार्ग में प्रवेश करके ही बुद्धत्व प्राप्त करता है । इस कारण प्रारम्भिक पृथग्जन अवस्था से सीधे तन्त्र मार्ग में प्रविष्ट साधकों की और पारमितायान के मार्गों की पूर्वगामिता वाले साधकों की मार्ग एवं भूमि के क्रम में कुछ भी भिन्नता नहीं होती । पारमितायान पूर्वगामी साधकों को प्रहेय की दृष्टि से मात्र सूक्ष्मतम ज्ञेयावरण का

प्रहाण करना होता है, परन्तु उपाय पक्ष की पूर्णता के लिए चतुर्थ क्रम के उपमेय प्रभास्वर से लेकर निष्पन्न-क्रम की साधना करनी होती है । तन्त्रों में पारमितायान में प्रचलित भूमि-व्यवस्थाओं से हटकर विशेष प्रकार की भूमि व्यवस्था का भी उल्लेख मिलता है । जिसमें दश भूमि से लेकर १६ भूमियों तक की चर्चा है[१] । परन्तु ये भूमियाँ पारमितायान की भूमियों के समकक्ष नहीं कही जा सकतीं ।

गुह्यसमाज तन्त्र की परम्परा

असंख्य अनुत्तर तन्त्रों में से गुह्यसमाज तन्त्र एक विशेष तन्त्र है, क्योंकि इस तन्त्र में अनुत्तरतन्त्रों के मूल अभिधेय 'मायाकाय' एवं 'प्रभास्वर' के विस्तृत अर्थ का सुस्पष्ट, सुगम एवं संक्षेप रूप से प्रतिपादन किया गया है । मायाकाय के प्रतिपादन पर विशेष बल देने के कारण यह पितृतन्त्र एवं उपायतन्त्र माना गया है । आचार्य नागार्जुन से लेकर सभी पारम्परिक आचार्यों ने इस तन्त्र को बुद्धवचन के रूप में माना है । इसलिए परम्परावादी आचार्य इस तन्त्र के काल के बारे में विचार ही नहीं करते । अतः यहाँ पर भी इस विषय की चर्चा नहीं की जा रही है ।

इस तन्त्र-परिवार में चार या तीन प्रकार के तन्त्र माने गए हैं, यथा— १. मूलतन्त्र, २. उत्तरतन्त्र, ३. व्याख्यातन्त्र और ४. समनुकूल तन्त्र ।

मूलतन्त्र सप्तदश पटलों में पूरा होता है तथा उसके अठारहवें पटल को उत्तरतन्त्र के रूप में टीकाकारों ने मान्यता दी है ।

गुह्यसमाज के व्याख्या तन्त्र में नागार्जुन एवं आर्यदेव ने स्पष्ट रूप से पाँच तन्त्रों का उल्लेख किया है, यथा— १. चतुर्देवीपरिपृच्छा, २. सन्धि-व्याकरण, ३. वज्रमाला, ४. ज्ञानवज्रसमुच्चय एवं ५. देवेन्द्र-परिपृच्छा ।

नागार्जुन एवं आर्यदेव ने उत्तरतन्त्र का व्याख्या-तन्त्र के अन्तर्गत स्पष्ट रूप से उल्लेख नहीं किया है, फिर भी आचार्य स्थगन एवं जिनदत्त ने उसे व्याख्यातन्त्र माना है और यह उचित भी प्रतीत होता है ।

---

१. द्र०-वज्रगर्भालङ्कारतन्त्र, हेवज्रतन्त्र, उत्तराभिधानतन्त्र, वज्रमालाभाष्यतन्त्र तथा ज्ञानतिलक तन्त्र आदि ।

समनुकूलतन्त्र में वज्रगर्भालङ्कार, मायाजाल आदि तन्त्र माने जाते हैं ।

वज्रावलि के टीकाकार का कहना है कि मूलतन्त्र के दो प्रारूप थे, यथा— (१) बृहत् तथा (२) लघु । बृहत्-तन्त्र का परिमाण २५००० श्लोकात्मक था, किन्तु वह आज उपलब्ध नहीं है । वर्तमान में जो मूलतन्त्र उपलब्ध है, वह लघु-मूलतन्त्र है ।

उपर्युक्त तन्त्रों में से देवेन्द्रपरिपृच्छा का भोटानुवाद उपलब्ध नहीं है । शेष भोटभाषा में अनूदित हैं और उपलब्ध हैं । संस्कृत में मात्र मूलतन्त्र एवं उत्तरतन्त्र ही उपलब्ध है, जो मिथिला-विद्यापीठ एवं गायकवाड संस्कृत सीरीज से प्रकाशित हैं । शेष तन्त्र अभी तक मूल संस्कृत में उपलब्ध नहीं हो पाए हैं ।

गुह्यसमाज की परिभाषा

सर्व तथागतों के काय, वाक, चित्त के समस्त गुह्य अर्थात् वज्रयान के समस्त गुह्य मर्म इस तन्त्र में समाविष्ट हैं, इस कारण से 'गुह्यसमाज' कहते हैं[१] ।

टीकाग्रन्थ

गुह्यसमाज की टीकाओं में परम्परागत दृष्टि से सबसे प्राचीन टीका पद्मवज्रपाद (श्रीनाथमहासुख) द्वारा रचित गुह्यसिद्धि मानी जाती है । इसमें मुख्य रूप से तन्त्र के निदान का विवेचन किया गया है । यह ग्रन्थ सप्तसिद्धि के शेष छह ग्रन्थों का मूल माना जाता है । सरहपाद द्वारा गुह्यसमाज पर कोई स्वतन्त्र टीका नहीं लिखी गई है, फिर भी उनके दोहे गुह्यसमाज तन्त्र के अर्थ को जानने में अत्यधिक उपयोगी एवं महत्त्वपूर्ण हैं । गुह्यसिद्धि संस्कृत में उपलब्ध है और केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान, सारनाथ द्वारा सन् १९८७ में 'गुह्यादि-अष्टसिद्धिसंग्रह' के अन्तर्गत उसका प्रकाशन भी हुआ है ।

आर्यपरम्परा

गुह्यसमाज की विस्तृत एवं प्रामाणिक टीका आचार्य नागार्जुन द्वारा रचित 'पञ्चक्रम' नामक प्रस्तुत ग्रन्थ ही है । उनकी परम्परा को 'आर्यपरम्परा' कहा

---

१. त्रिविधं कायवाक्चित्तं गुह्यमित्यभिधीयते ।
समाजं मीलनं प्रोक्तं सर्वबुद्धाभिधानकम् ।।
(द्र०-गुह्यसमाजतन्त्र, १८;२४) ।

जाता है । इस परम्परा के अन्तर्गत आचार्य भव्यकीर्ति ने 'प्रदीपोद्योतन' की 'अभिसन्धिप्रकाशिका' नामक व्याख्या का प्रणयन किया है । उसमें नागार्जुन द्वारा रचित ग्रन्थों की सूची में पिण्डीक्रमसाधन, सूत्रमेलापकसाधना, हूँ- कार-साधना, पञ्चक्रम और गुह्यसमाजमूलतन्त्रटीका का उल्लेख है । परन्तु आचार्य नागार्जुन की गुह्यसमाजमूलतन्त्रटीका उपलब्ध नहीं है । नागार्जुन के नाम से अनेक और ग्रन्थ भी दिखलाई पड़ते हैं, किन्तु वे सभी यथार्थ रूप में नागार्जुन द्वारा प्रणीत हैं कि नहीं ? इस पर विद्वानों को विचार करना चाहिए ।

नागार्जुन के प्रामाणिक ग्रन्थों में उत्पत्तिक्रम के लिए पिण्डीक्रमसाधन तथा सूत्रमेलापकसाधना है तथा निष्पन्नक्रम के लिए पञ्चक्रम एवं बोधिचित्त-विवरण हैं । इन चारों को प्रामाणिक वाङ्मय के रूप में अधिकांश भारतीय विद्वानों ने मान्यता दी है । इनके भोट-अनुवाद भी उपलब्ध हैं । इनके अतिरिक्त चतुर्मुद्राक्रम भी आचार्य नागार्जुन की कृति है— ऐसा आचार्य मैत्रेयपाद एवं उनके अनुयायियों ने माना है, परन्तु 'उपदेशमञ्जरी' में अभयाकर गुप्त ने इस मत का खण्डन किया है । गायकवाड ओरियन्टल सीरीज, बड़ौदा से मूल संस्कृत में 'अद्वयवज्रसंग्रह' नामक ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है, जिसमें आचार्य अद्वयवज्र के छोटे-बड़े २१ ग्रन्थ संगृहीत हैं । इसमें एक ग्रन्थ 'चतुर्मुद्रा' है । कुछ विद्वानों की राय में यह आचार्य नागार्जुन की रचना है, जिसका नाम 'चतुर्मुद्राक्रम' या 'चतुर्मुद्रोपदेश' है । यदि यह नागार्जुन की रचना है तो मूल संस्कृत में उपलब्ध है ।

आर्य नागार्जुन के प्रमुख शिष्य आर्यदेव ने नागार्जुन के ग्रन्थ पञ्चक्रम की चर्यामेलापकप्रदीप एवं स्वाधिष्ठानक्रमभेद नामक अर्थप्रधान टीकाएँ की हैं ।

आचार्य नागबोधि ने उत्पत्तिक्रम का प्रधान रूप से तथा निष्पन्नक्रम का सामान्यरूप से प्रतिपादन करते हुए समाजसाधनव्यवस्थाक्रम, कर्मान्तविभङ्ग एवं गुह्यसमाजमण्डलविंशतिविधि नामक ग्रन्थों की रचना की है ।

आचार्य शाक्यमित्र ने आचार्य नागार्जुन के पञ्चक्रम के द्वितीयक्रम में कुछ पद्यों की रचना कर उसमें जोड़ दिये हैं ।

आचार्य चन्द्रकीर्ति ने गुह्यसमाज मूलतन्त्र पर प्रदीपोद्योतन नामक सुप्रसिद्ध टीका की रचना की है । यह ग्रन्थ संस्कृत में उपलब्ध है और काशीप्रसाद जायसवाल-अनुशीलनसंस्था, पटना द्वारा सन् १९८४ में इसका प्रकाशन हुआ है । तथा वज्रसत्त्वसाधना नामक एक दूसरा ग्रन्थ भी उन्होंने लिखा है ।

उपर्युक्त पाँच आचार्य नागार्जुन परिवार या कुल के 'पाँच आचार्य' कहे जाते हैं । सभी भारतीय आचार्यों ने आर्यदेव, नागबोधि एवं शाक्यमित्र तीनों को निर्विवाद रूप से आचार्य नागार्जुन के साक्षात् शिष्य के रूप में मान्यता दी है, किन्तु आचार्य चन्द्रकीर्ति के साक्षात् शिष्य होने में विवाद है, फिर भी परमसिद्ध लक्ष्मीङ्करा के शिष्य पण्डित कुमार ने प्रदीपोद्योतन के कुछ श्लोकों का उद्धरण देते हुए आचार्य चन्द्रकीर्ति को भी नागार्जुन का साक्षात् शिष्य माना है ।

इन पाँचों आचार्यों की रचनाओं को प्रामाणिक मानते हुए अनेक विद्वानों ने इस परम्परा के अन्तर्गत टीका, टिप्पणी, साधना, पिण्डार्थ आदि नाम से अनेक रचनाएं की हैं ।

नारोपा, अभयाकर गुप्त, करुणाश्री, लक्ष्मीङ्करा, मुनिश्रीभद्र, भव्यकीर्ति, कुमार, कुलधर, तथागतरक्षित, लीलावज्र, अलङ्कदेव आदि इस परम्परा के प्रमुख आचार्य हैं ।

ज्ञानपाद परम्परा

आचार्य ललितवज्र ने यद्यपि मूल तन्त्र के निदानमात्र की टीका लिखी है, फिर भी उन्होंने क्रमद्वय के ऊपर किसी व्याख्या की रचना नहीं की है । इसलिए उनकी कोई पृथक् परम्परा नहीं है, परन्तु उनके शिष्य बुद्धज्ञानपाद ने मञ्जुश्री (द्विक्रमतत्त्वभावना नाम) - मुखागम नामक टीका लिखी है । वह टीका आगे चलकर ज्ञानपाद परम्परा के नाम से प्रसिद्ध हुई । यह परम्परा उपर्युक्त आर्यपरम्परा से कुछ भिन्नताएं भी रखती है । आचार्य बुद्धज्ञानपाद ने मञ्जुश्री-मुखागम के अतिरिक्त निष्पन्नक्रम पर मुक्तितिलक नामक ग्रन्थ भी लिखा है ।

आचार्य आनन्दगर्भ, आचार्य विमलगुप्त, आचार्य शान्तिपाद आदि ने इस परम्परा के अन्तर्गत अनेक टीका, टिप्पणी, पिण्डार्थ आदि की रचना की है । ये रचनाएं ज्ञानपाद-परम्परा की निकटवर्ती हैं ।

गुह्यसमाज की प्रचलित परम्पराओं में आर्य नागार्जुन द्वारा प्रवर्तित आर्यपरम्परा तथा उसके बाद बुद्धज्ञानपाद की परम्परा ही प्रमुख हैं ।

नागार्जुन परम्परा में अक्षोभ्यवज्रप्रधान बत्तीस देवपरिवार मण्डल होता है तथा साधना में योग, अनुयोग आदि षडङ्ग योग द्वारा उत्पत्तिक्रम की तथा पञ्चक्रम द्वारा निष्पन्नक्रम की व्यवस्था की जाती है ।

ज्ञानपादपरम्परा में मञ्जुश्रीप्रमुख उन्नीस देवपरिवार मण्डल होता है तथा निष्पन्नक्रम में प्राणायाम, धारणा आदि चार अङ्गों की और उत्पत्तिक्रम में प्रत्याहार एवं ध्यान इन अङ्गों की व्यवस्था है ।

इन दोनों परम्पराओं का भोटदेश में आचार्य दीपङ्कर श्रीज्ञान, रत्नभद्र, नारोपा के साक्षात् शिष्य मरपा छोस् क्यि लोडुस्, गोस लोचावा, छक् लोचावा आदि ने अनुवाद एवं प्रचार-प्रसार किया । आगे चलकर आचार्य बुदोन, साक्य पण्डित, आचार्य चोंखापा आदि ने अनेक ग्रन्थों का प्रणयन किया ।

प्रस्तुत ग्रन्थ

अनुत्तरयोगतन्त्र के मार्ग से बुद्धत्व प्राप्त करने के लिए क्रमद्वययोगसाधना अनिवार्य है । आचार्य नागार्जुन ने प्रस्तुत ग्रन्थ में गुह्यसमाज मूल एवं अन्य तन्त्रों में बिखरी हुई तथा अक्रमिक रूप से उपदिष्ट सामग्री को संकलित कर उसे साधना की दृष्टि से संक्षिप्त, स्पष्ट एवं क्रमबद्ध रूप प्रदान किया । उन्होंने उत्पत्तिक्रम का प्रतिपादन करने के लिए पिण्डीक्रमसाधन अथवा पिण्डीक्रम तथा निष्पन्नक्रम का निरूपण करने के लिए पञ्चक्रम की रचना की ।

पिण्डीक्रमसाधन— उत्पत्तिक्रम साधना वह साधना है, जिसमें साधक निष्पन्नक्रम की साधना के लिए अपने-आप को पात्र बनाता है । इस उत्पत्तिक्रम में तीन बातें प्रमुख रूप से प्रतिपाद्य हैं, यथा— (क) परिशोध्य वस्तु, (ख) मार्गीकरण एवं (ग) देवमण्डल का उत्पाद और देवताहंकार ।

(क) परिशोध्यवस्तु— परिशोध्य वस्तु तीन हैं- जन्म, मरण एवं अन्तराभव । इनका शोधन करने के लिए साधक भाजनसहित अपने स्थूल शरीर को आलम्बन बनाकर मृत्युक्रम के अनुरूप उपसंहार की भावना कर उसे शून्य में

विलीन करता है तथा उस शून्य के आकार में धर्मकाय का अहंकार करता है । इसे मृत्यु में धर्मकाय का मार्गीकरण करना कहते हैं । तदनन्तर उस शून्य से अन्तराभव के सदृश आसन, बीज और उपकरण की उत्पत्ति की भावना की जाती है और उसमें सम्भोगकाय का अहंकार किया जाता है । इसे अन्तराभव में सम्भोगकाय का मार्गीकरण करना कहते हैं । तत्पश्चात् उन बीज एवं उपकरणों को क्रमशः देवरूप में उत्पन्न किया जाता है और समस्त देवमण्डल की उत्पत्ति की भावना की जाती है तथा उसमें निर्माणकाय का अहंकार किया जाता है । इसे जन्म में निर्माणकाय का मार्गीकरण करना कहते हैं ।

तत्पश्चात् देवमण्डल में देवों का स्फुरण, जगत्कल्याण और उपसंहरण की भावना की जाती है, जिससे साधक की देह का शोधन एवं पुण्यसम्भार का संचय होता है । पूजा, जप, स्तुति आदि भी इसके अंग होते हैं । इन सब बातों का पिण्डीक्रमसाधन में विस्तार से प्रतिपादन किया गया है ।

इसके अतिरिक्त नागार्जुन ने उत्पत्तिक्रम की साधना के लिए सूत्रमेलापक की भी रचना की है, किन्तु यह ग्रन्थ मूल संस्कृत में अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ है । भोटभाषा में इसका अनुवाद उपलब्ध है ।

पञ्चक्रम

निष्पन्नक्रम का सम्यक् प्रतिपादन करने के लिए नागार्जुन ने पञ्चक्रम की रचना की है । निष्पन्नक्रम को मूलतन्त्र में षट् क्रम के रूप में भी निर्दिष्ट किया गया है तथा अन्यत्र टीकाओं में चतुष्क्रम का भी उल्लेख है, परन्तु संख्याभेद के अतिरिक्त इसमें अर्थभेद बिलकुल नहीं है । अशैक्ष युगनद्धत्व या बुद्धत्व ही साधक का एकमात्र लक्ष्य है, जिसे प्राप्त करने के लिए उपमेय प्रभास्वर एवं विशुद्ध मायाकाय का योग, जो शैक्ष युगनद्धत्व कहलाता है, उसकी अनिवार्यता है । उसी शैक्ष युगनद्धत्व को प्राप्त करने के लिए मायाकाय का प्राप्त होना अनिवार्य है । विशुद्ध मायाकाय को प्राप्त करने के लिए उपमेय प्रभास्वर का उत्पन्न होना आवश्यक है । उपमेय प्रभास्वर प्राप्त करने के लिए या तो तीन असंख्येय कल्पपर्यन्त सम्भारद्वय का संचय हो या उसके तुल्यबल तृतीय क्रम का मायाकाय, जिसे अविशुद्ध मायाकाय भी कहते हैं, को उत्पन्न करना आवश्यक होता है । उस प्रकार के (अविशुद्ध) मायाकाय को प्राप्त करने के लिए

चित्तविवेक प्राप्त होना चाहिए । चित्तविवेक के लिए वाग्विवेक या वज्रजप या प्राणायाम का क्रम आवश्यक है । इस क्रम से पञ्चक्रम में प्रत्येक क्रम का सुस्पष्ट एवं विस्तृत प्रतिपादन किया गया है ।

१. वज्रजापक्रम— यह पञ्चक्रम का प्रथम क्रम है । आचार्य मुनिश्रीभद्र आदि कुछ टीकाकारों ने पिण्डीक्रम को नागार्जुनकृत पञ्चक्रम का प्रथम क्रम माना है और अनुत्तरसन्धि को शाक्यमित्र की रचना मानकर उसे पञ्चक्रम के अन्तर्गत नहीं माना है । परन्तु अधिकांश अन्य आचार्यों ने इस मत को न्यायसङ्गत नहीं माना है । प्राचीन पाण्डुलिपियों में पिण्डीक्रम प्रथम-क्रम के नाम से उल्लिखित नहीं है । इतना ही नहीं, वज्रजप के प्रारम्भ में पञ्चक्रम का नामकरण होता है । वज्रजप के विषय का प्रतिपादन करते हुए उसमें पाँचों क्रमों की कायिक व्यवस्था उपलब्ध होती है । वज्रजाप क्रम के प्रारम्भ में क्रमद्वय का निश्चित क्रम और निष्पन्न क्रम के पाँचों क्रमों का नियत क्रम दर्शाया गया है । तत्पश्चात् आगे आने वाले सभी निष्पन्न क्रमों की साधना के लिए आवश्यक देह (काय), नाडी, वायु (प्राण), बिन्दु की विस्तृत व्याख्या की गई है, जो आगे के पाँचों क्रमों के लिए सामान्य हैं । उसके बाद वज्रजप-साधना का निर्देश किया गया है, जो निष्पन्न क्रम की पञ्चक्रम-व्यवस्था में प्रथम क्रम है ।

उत्पत्तिक्रम में दृढ़ता प्राप्त करने के अनन्तर निष्पन्नक्रम की साधना में प्रवेश वाग्विवेक या वज्रजाप से होता है । इसमें हृदय में बिन्दु की भावना करके वायु का बहिर्निश्चारण, प्रवेश एवं स्थिति को अक्षरत्रय की ध्वनि के स्वभाव में भावना करके वज्रजाप करने का विधि-विधान बताया गया है । इसके फलस्वरूप हृदयचक्र की नाडीग्रन्थियाँ शिथिल होती हैं तथा वायु का प्रवेश, स्थिति एवं विलय की सम्भावना बलवती होती है । जिसके फलस्वरूप चण्डाली प्रज्वलित होती है तथा धातु का गलन होता है । इससे सुख उत्पन्न होता है और मृत्यु के क्रम के सदृश महाभूतों के क्रमशः विलय के लक्षणों का आभास, आलोक, आलोकाभास एवं आलोकोपलब्धि, प्रभास्वर क्रमशः उदित होते हैं । इनकी विलोम अवस्था में ओलोकोपलब्धि, आलोकाभास एवं आलोक उदित होते हैं । इस स्थिति में वज्रजाप क्रम की पराकाष्ठा होती है । इन सबका सविस्तर साधनाक्रम इस क्रम में दर्शाया गया है ।

२. अनुत्तरसन्धिक्रम— इस क्रम के अन्त में शाक्यमित्र का नाम होने के कारण इस प्रकरण के आचार्य नागार्जुन की रचना होने में कुछ टीकाकारों ने सन्देह प्रकट किया है । अभयाकर गुप्त, परहितरक्षितपाद, समयवज्र एवं मुनिश्रीभद्र ने इसे शाक्यमित्र की रचना माना है और पिण्डीक्रमसाधन को प्रथम क्रम के रूप में स्वीकार किया है[१] । लक्ष्मींकरा की टीका में दो मत प्रस्तुत किये गये हैं, यथा— १. शाक्यमित्र नागार्जुन का ही उपसम्पदा का नाम है तथा २. आचार्य नागार्जुन ने ही अपने द्वारा रचित इस क्रम को वात्सल्य भाव से प्रेरित होकर अपने प्रिय शिष्य शाक्यमित्र के नाम के साथ सम्बद्ध कर दिया है । इन दोनों में लक्ष्मींकरा प्रथम मत की पक्षधर हैं । आचार्य चोंखापा जी ने वज्रजप के प्रारम्भ में पाँचों क्रमों का संक्षिप्त निरूपण होने तथा पाँचवें क्रम के अन्त में परिणामना होने के कारण यह 'पञ्चक्रम' नामक पूरा ग्रन्थ नागार्जुन द्वारा रचित है तथा वे पाँचों क्रम एक ही ग्रन्थ के पाँच प्रकरण हैं— ऐसा माना है । इसके अतिरिक्त उन्होंने यह भी कहा है कि द्वितीय प्रकरण के ''ज्ञानिनो भवपञ्जरात्'' (४७-ए-बी) तक का अंश स्वयं आचार्य की रचना है तथा उसके आगे का शेष भाग शाक्यमित्र की कृति है । अपि च, इस क्रम का 'अनुत्तरसन्धि' यह नामकरण नागार्जुन द्वारा किया हुआ है तथा 'सर्वशुद्धिविशुद्धिक्रम' यह आचार्य शाक्यमित्र द्वारा प्रदत्त नाम है । क्योंकि आर्यदेवकृत 'चर्यासमुच्चयप्रदीप' (भावार्थ टीका) में द्वितीयक्रम के आचार्यकृत भाग से उद्धरण देते समय मात्र 'अनुत्तर-सन्धि' इस नाम का ही उल्लेख किया गया है ।

इस क्रम के आचार्य नागार्जुनरचित अंश में चित्तविवेक साधना का स्वरूप प्रदर्शित किया गया है । वज्रजप साधना द्वारा वाग्विवेक निष्पन्नक्रम सम्पन्न होने के अनन्तर व्यानवायु पर अवलम्बित वज्रजप एवं मुद्रा की सहायता से प्राणायाम करने के फलस्वरूप हृदयस्थ नाडी-ग्रन्थियाँ पूर्णतया खुल जाती हैं तथा वायु के कुछ अंश हृदय की अवधूती में प्रविष्ट, स्थित एवं विलीन हो जाते हैं । इससे चाण्डाली का प्रज्वलन होता है, धातु का गलन होता है तथा महासुख की अनुभूति होती है ।

---

१. द्र०-आचार्यशाक्यमित्रस्त्वात्मनो बाहुश्रुत्यं प्रकटयन् प्रकृतिप्रभेदप्रकाशम् अनुत्तरसन्धिनामकं ग्रन्थं कृत्वा आर्ये पञ्चक्रमे प्रक्षिप्तवानिति लक्ष्यते । तस्माद् आत्मनो बाहुश्रुत्यं प्रकटयता शाक्यमित्रेण तदिह प्रक्षिप्तमिति निश्चितमेतदित्यलमिह निर्बन्धेन, प्रकृतमेव ब्रूमः ।
द्र०-पञ्चक्रम के अभिसम्बोधिक्रम की परहितरक्षितपाद कृत टिप्पणी ।

तदनन्तर आलोक, आलोकाभास, आलोकोपलब्धि, प्रभास्वर क्रमशः उदित होते हैं । इसके विलोम में जब आलोक ज्ञान उदित होता है, तब चित्तविवेक की निष्पन्न अवस्था मानी जाती है । इस अवस्था में इस प्रकरण में ज्ञान अथवा कर्म मुद्रा के सेवन एवं विभिन्न उपसंहार की भावनाओं से शेष चक्रों की नाडी-ग्रन्थियों के खुलने की साधना सविस्तर बतलाई गई है ।

शाक्यमित्र रचित अंश में यद्यपि चित्तविवेक की कुछ बातें हैं, फिर भी इसके अतिरिक्त प्रभास्वर एवं युगनद्ध के क्रमों में प्रतिपाद्य विषयों का भी उल्लेख मिलता है । इस कारण भी यह अंश आचार्य नागार्जुन द्वारा रचित नहीं है— इसका आभास मिलता है । अन्यथा पुनरुक्ति होने का दोष होता है ।

३. स्वाधिष्ठानक्रम— इस क्रम में मायाकाय की साधना का प्रतिपादन किया गया है । चित्तविवेक की साधना में पराकाष्ठा-प्राप्त होने पर व्यानसहित समस्त वायु हृदय में प्रविष्ट, स्थित एवं विलीन हो जाती हैं । इसके फलस्वरूप हृदय की सम्पूर्ण नाडी-ग्रन्थियाँ शिथिल हो जाती हैं और उस समय मृत्यु क्रम में होने वाले मरीचि लक्षण से लेकर प्रभास्वर तक के सभी लक्षण लाक्षणिक रूप से उत्पन्न होते हैं । इस स्थिति के प्रभास्वर को 'उपमा-प्रभास्वर' कहते हैं । इस प्रभास्वर के उत्थान होने पर प्राण या वायु का किञ्चिद् स्पन्दन होता है और उस समय अतिसूक्ष्म पञ्चरश्मि वायु के उपादान से प्रतिरूपक ३२ महापुरुष लक्षण एवं ८० अनुव्यञ्जनों से युक्त मायाकाय उदित होता है, जिसे 'अविशुद्ध मायाकाय' कहते हैं । इस मायाकाय के निमित्त से साधक सप्रपञ्च, निष्प्रपञ्च एवं अतिनिष्प्रपञ्च चर्याओं में संलग्न हो जाता है ।

४. अभिसम्बोधिक्रम— इस क्रम में प्रभास्वर की साधना का विस्तृत व्याख्यान किया गया है । अविशुद्ध मायाकाय में स्थित साधक विविध चर्याओं में अपनी संलग्नता, मुद्रा के सेवन और पिण्डग्राह तथा अनुभेद का उपसंहार और पुनः-पुनः भावना करते हुए शून्यताभावना का अभ्यास करता है । जब वह (साधक) शून्यता का साक्षात्कार (प्रतिवेध) कर लेता है तथा उसको 'उपमेय प्रभास्वर' प्राप्त हो जाता है, तब साधक आर्यपुद्गल हो जाता है तथा उसे समस्त क्लेशावरण को प्रहाण करने में समर्थ प्रतिपक्ष प्राप्त हो जाता है ।

५. युगनद्धक्रम— इस क्रम में शैक्ष युगनद्ध की साधना एवं अशैक्ष युगनद्ध का स्वरूप विस्तारपूर्वक बतलाया गया है । उपमेय प्रभास्वर से उत्थान

होने पर विशुद्ध मायाकाय उपलब्ध होता है । इस अवस्था में मायाकाय और प्रभास्वर अभिन्न रूप से युगनद्ध की स्थिति में हो जाते हैं । परन्तु अभी ज्ञेय आवरणों का प्रहाण न होने के कारण अशैक्ष युगनद्धत्व या बुद्धत्व प्राप्त नहीं होता है । उसके बाद शैक्ष युगनद्धता की स्थिति में ही निरन्तर शून्यता में समाहित रहने से समस्त ज्ञेयावरण युगपत् प्रहीण हो जाते हैं । मायाकाय सम्भोगकाय के रूप में तथा प्रभास्वर धर्मकाय के रूप में परिणत हो जाते हैं । इसके फलस्वरूप साधक काय-चित्त-युगनद्ध अशैक्ष वज्रधर के पद को प्राप्त करता है ।

सम्पादक

विषयानुक्रमः

प्रकाशकीय	v
पुरोवाक्	vii
भूमिका	xiii

तन्त्र का अर्थ-xv, गुह्यमन्त्र-xxi, वज्रयान-xvi, फलयान-xvii, उपाययान-xvii, तन्त्रयान की विशेषता-xvii, तन्त्रयान और पारमितायान दोनों की पृथग् व्यवस्था पर विविध मत-xvii, पृथग् यान-व्यवस्था का सम्यग् हेतु-xviii, तन्त्रयान की असाधारण विशेषताएं-xiv, (क) असम्मोह-xx, (ख) उपायबहुलता-xx, (ग) अदुष्कर चर्या-xxi, (घ) तीक्ष्णेन्द्रियता-xxi, बौद्ध तन्त्र की विशेषता-xxii, तन्त्र के भेद-xxiii, क्रियातन्त्र-xxiii, चर्यातन्त्र-xxiv, योगतन्त्र-xxiv, अनुत्तरतन्त्र-xxiv, अभिषेक-xxvi, भेद-xxviii, उत्पत्ति-क्रम-xxviii, निष्पन्नक्रम-xxxi, भूमि-मार्ग व्यवस्था-xxxiii, गुह्यसमाजतन्त्र की परम्परा-xxxv, गुह्यसमाज की परिभाषा-xxxvi, टीका ग्रन्थ-xxxvi, आर्यपरम्परा-xxxvi, ज्ञानपाद परम्परा-xxxviii, प्रस्तुत ग्रन्थ-xxxix, पिण्डी-क्रमसाधन-xxxix, (क) परिशोध्य वस्तु-xxxix, पञ्चक्रम-xl, (१) वज्रजाप-क्रम-xli, (२) अनुत्तरसन्धिक्रम-xlii, (३) स्वाधिष्ठानक्रम-xliii, (४) अभि-सम्बोधिक्रम-xliii, (५) युगनद्धक्रम-xliii ।

विषयानुक्रमः	xlv-xlvi
पिण्डीक्रमः	३-३२
पञ्चक्रमः	३३-७५
वज्रजापक्रमः प्रथमः	३४
अनुत्तरसन्धिरित्यपरनामा सर्वशुद्धिविशुद्धिक्रमः द्वितीयः	४३
स्वाधिष्ठानक्रमः तृतीयः	५७
अभिसम्बोधिक्रमः चतुर्थः	६५